श्रेष्ठि-देवचन्द्र लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः ११०

पञ्चमगणभृच्छ्रीमत्सुधर्मस्वामिप्रणीतं खरतरगच्छगगनाङ्गणभास्करपाठकप्रवर-

श्रीमत्साधुरङ्गगणिसङ्कलितया दीपिकया समलङ्कृतं

श्रीसूयगडाङ्गसूत्रम् ।

(द्वितीयश्रुतस्कन्धात्मको द्वितीयो विभागः)

तथा श्रीतपागच्छीयहर्षकुलगणिविरचितदीपिकाया विशिष्टभागेन संयुतम् ।

सम्पादकः—क्रियोद्धारकश्रीमन्मोहनलालजीमुनिवरविनेय स्व० अनुयोगाचार्य

श्रीमत्केशरमुनिजीगणिवर-विनेयो बुद्धिसागरो गणिः ।

प्रकाशकः—सुरतवास्तव्य श्रेष्ठि देवचन्द्र लालभाई जैनपुस्तकोद्धारकोशस्य कार्यवाहको

मोतीचंद मगनभाई चोकसी ।

वीराब्दाः २४८९ विक्रमाब्दाः २०१९ *** शाके १८८५ ख्रिस्ताब्दाः १९६२

प्रथमं संस्करणम् । * निष्क्रयं रूप्यकत्रयम् । * प्रतयः ५००

પ્રકાશકીય નિવેદન

આગમવિભાગના અપ્રગટ ગ્રંથોની અમારી પ્રકાશન-યોજનામાં આ પંચમ પ્રકાશન પ્રગટ કરતાં અનહદ આનંદ પ્રાપ્ત થાય છે. આ ગ્રંથનો પ્રથમ ભાગ વિં. સં. ૨૦૧૫ માં બહાર પડી ગયો છે. બીજા શ્રુતસ્કંધરૂપ આ બીજો ભાગ પ્રસિદ્ધ કરતાં અમો અત્યંત આનંદ અનુભવીએ છીએ.

આ ગ્રંથનું નામ પ્રાકૃતમાં **સૂયગડાંગ** અને સંસ્કૃતમાં **સૂત્રકૃતાંગ** છે. ગ્રંથ અંગેની માહિતી પ્રથમ વિભાગમાં સવિસ્તર આપેલી છે.

વિવરણ:—આ સૂત્ર ઉપરની **દીપિકાનું** નામ **સમ્યક્ત્વ દીપિકા** પણ છે. તે સિવાય આ સૂત્ર ઉપર આચાર્ય શ્રી હેમવિમલસૂરિના શિષ્ય **હર્ષકુલગણિએ** સં. ૧૫૮૩ માં ૬૬૦૦-૭૦૦૦ શ્લોકપ્રમાણ દીપિકા રચી છે. જે બાબુ ધનપતસિંહજી તરફથી મુદ્રિત થઈ છે, તેમાંનો સારભાગ આ ગ્રંથમાં પાછળ આપવામાં આવેલ છે તેમ જ આ ગ્રંથ ઉપર બાળાવબોધ શ્રી પાર્શ્વચંદ્રસૂરિએ કરેલ છે.

બીજી **દીપિકા– શ્રી સાધુરંગ** ઉપાધ્યાયે રચી છે. જેનો પ્રથમ ભાગ અમારા તરફથી બહાર પડી ચૂક્યો છે. બાકીનો બીજો ભાગ આ ગ્રંથમાં પ્રસિદ્ધ થાય છે. આ ગ્રંથની પ્રેસકોપી ગણિ શ્રી **બુદ્ધિમુનિજી** તરફથી અમને મળી હતી. જે અમો સાભાર પ્રકાશિત કરી ચૂક્યા છીએ. આ સૂત્રનો ટબો (બાળાવબોધ) ગુજરાતી ભાષાંતર આ૦ શ્રી જિનમાણેકસૂરિજી વગેરે તરફથી પ્રકાશિત થયા છે. અંગ્રેજીમાં હર્મન જેકોબી તરફથી ભાષાંતર થયું છે.

આ ગ્રંથની પ્રેસકોપી તયાર કરી સંશોધન કરી આપવા માટે **ગણિવર્ય શ્રી બુદ્ધિમુનિજીનો** અમે ખાસ ઉપકાર માનીએ છીએ ગ્રંથના પ્રથમ ભાગનુ સંપાદન પણ તેઓશ્રીએ કર્યું હતું. બીજા ભાગના પણ મોટા ભાગનું સંપાદન તેઓ શ્રીએ કરેલ છે. મૂળ દીપિકાના અંત ભાગનું મુદ્રણ કાર્ય ચાલુ હતું, તે અરસામાં તેઓશ્રીની તબીયત અત્યંત અસ્વસ્થ બની, આથી સંશોધનનું કાર્ય **પં૦ કપૂરચંદ રણછોડદાસ વારૈયાને** સોંપવામાં આવ્યું. તબીયત અસ્વસ્થ હોવા છતાં પૂ૦ ગણિ શ્રી છેલ્લી પ્રૂફો જાતે તપાસતા. આ રીતે તેઓશ્રી દેવગત થવાથી બાકીની મેટર માટે બીજાની મદદ લેવી પડી છે. તેઓશ્રીના આત્માની આ તકે શાંતિ ઇચ્છીએ છીએ.

આ ગ્રંથની પ્રસ્તાવના લખી આપવા માટે આ૦ શ્રી કૃપાચંદ્રસૂરિજી મ૦ના શિષ્ય ઉપા૦ શ્રી સુખસાગરજી મ૦ના શિષ્ય **પૂ૦ મુનિરાજ શ્રી મંગલસાગરજી** મહારાજશ્રીનો તથા મૂલ સૂત્રોનો તથા સુભાષિત ગદ્ય–પદ્ય–સંગ્રહનો અકારાદિ ક્રમ તયાર કરી આપવા બદલ ગણિવર્ય શ્રી બુદ્ધિમુનિજી મહારાજના શિષ્ય **પૂ૦ મુનિ શ્રી જયાનંદમુનિજી મ૦નો** આભાર માનીએ છીએ,

દૃષ્ટિદોષ કે મુદ્રણદોષથી જે કંઈ સ્ખલનાઓ રહી જવા પામી હોય તેની અંતઃકરણથી ક્ષમા યાચીએ છીએ.

સં. ૨૦૧૯
મૌન એકાદશી
(માગશર સુદિ ૧૧

લિ૦
મોતીચંદ મગનલાલ ચોકસી
મેનેજીંગ ટ્રસ્ટી
શેઠ દેવચંદ લાલભાઈ પુસ્તકોદ્ધાર ફંડ, સુરત.

निवेदन।

भगवान् श्री महावीर स्वामिजी के मुख से " उपन्नेइ वा " " विगमेइ वा २ " " धुवेइ वा ३ " इस प्रकार त्रिपदी सुन करके गणधरों ने द्वादशाङ्गी की रचना करते समय प्रथम आचाराङ्ग सूत्र की रचना की कारण की " सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए सेसाइं अंगाइं एक्कारस अणुपुव्विए " (आचा० नि० गा. ८)

तीर्थंकर भगवान् अपने अपने तीर्थ प्रवर्तन के समय आदि में आचार को हि प्रधानता देते है। आत्मकल्याणार्थ जीवों के लिए तो " चरण करण " ही मोक्षप्राप्ति का प्रधान साधन है।

प्रस्तुत सूत्रकृताङ्ग दुसरे नम्बर का सूत्र है, सूत्रकृताङ्ग का आचाराङ्ग सूत्र के साथ सम्बंध बतलाते हुवे निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामि कहते है " जीवो छकाय परूवणाय तेसिं वहेण बंधोत्ति " (आ० नि० गा. ३५)

उपरोक्त पाठसे स्पष्ट है की आचाराङ्ग सूत्र में बतलाए हुए पृथ्वीकाय आदि षट् जीवनिकाय प्राणियों के वधसे याने हिंसासे उत्पन्न होनेवाले कर्मों का " बंध " उसको समझो और समझने के बाद ज्ञानपूर्वक क्रिया द्वारा त्याग करो " बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया " इत्यादि उपरोक्त सूत्रकृताङ्ग के आदिम सूत्र में (सू. १) श्री गणधर सुधर्मास्वामि बतलाते है कि कर्म-

१ भगवान् महावीर ने अपनी दीर्घकालिक साधना के बाद जो अनुभव रत्न प्राप्त किया उसके एक अंश में सूचित किया गया है कि कोई भी पुरुष

बन्धनों का मूलभूत कारण समज के विशिष्ट संयम अनुष्ठान द्वारा क्षिय करके आत्मा को—कर्मों के बन्धन से मुक्त करो।

यहां पर अन्य दर्शन वाले कोई एक केवल ज्ञान से मोक्ष मानते है। और दुसरे दर्शनावलम्बी केवल क्रियासे हि मोक्ष मानते हैं; परंतु जैनदर्शन में तो "उभाभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यामेव मुक्तिः" ज्ञान और क्रिया दोनो मिलने पर ही मोक्ष है, ऐसा ज्ञानपूर्वक क्रिया द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध करते है।

अतः प्रस्तुत सूत्र–कृतांग में द्रव्यानुयोग प्रधान होने से नय–निक्षेपादिक के स्वरूपों का वर्णन करते समय तिनसो त्रेसठ (३६३) पाखण्डियो का मत का खण्डन करके, इस ग्रंथ में अर्हत भगवान् के सिद्धान्तो का सुंदरतापूर्वक प्रतिपादन किया है।

इस ग्रंथ के पठपाठन से भव्य जन जैनदर्शन के सिद्धांतों (द्रव्यानुयोग) का विस्तृत रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकते है।

प्रस्तुत ग्रंथ मूल–निर्युक्ति–श्रीशीलाङ्काचार्य कृत टीका तथा श्रीहर्षकुलगणिकृत दीपिकासह प्रथम छप चुका है।

ज्ञानी हो तो उसका सार यही है कि वह अपने आत्मज्ञान के कारण विश्वविज्ञान का उपभोग करता हुआ किसी की हिंसा नहीं करता। किसी भी प्राणी को न सताता है, न मारता है और न दुःख ही देता है। यहि अहिंसा सिद्धान्त है। इसी में विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है।

एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण। अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया॥

सूत्रकृतांग १।१।४।१०।

आधुनिक विज्ञान और अहिंसा।

लेखक :—गणेशमुनि शास्त्रि, * सम्पादक :—मुनि कान्तिसागरजी

परन्तु श्रीखरतरगच्छेश्वर श्रीमज्जिनदेवसूरीश्वर के आदेश से पाठक प्रवर श्रीसाधुरङ्गगणि द्वारा सं १५९९ वर्षे सङ्कलित "दीपिका" नामक ग्रंथका प्रथम बार ही मुद्रण हो रहा है ।

प्रस्तुत सूत्रकृताङ्ग की संक्षेपार्थ बोधिनी "दीपिका" के सम्पादन में गणिवर्य श्री बुद्धिमुनिजी महाराज द्वारा सम्प्राप्त प्रतियों का परिचय इस प्रकार है । —

(१) प्रति डेलाज्ञानभंडार की थी, आगमप्रभाकर मुनिवर्य श्री पुन्यविजयजी महाराज द्वारा मिली थी जिस का लेखनकार्य इस प्रकार है—

संवत १९१४ वर्षे ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दश्याम् लिपिकृताऽथं पुस्तिका उपाध्याय महेरचन्द्रेण श्रीइन्दोरमध्ये श्री केसरियानाथजी प्रसादात् ॥

(२) प्रति पूना के भाण्डारकर–प्राच्य विद्यासंशोधन मन्दिर की थी पत्र संख्या २१३ । इसके अंत में लिखनेवाले का नाम और संवतादि नहीं दिये है, यह प्रति श्रीयुत् अगरचंदजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुई थी ।

(३) प्रति फलोदी (राजस्थान) मोटी धर्मशाला में श्री संघ के ज्ञानमंदिर से प्राप्त की. पत्र संख्या ११४ । इसके अंत में

---

१ श्रीमद्बुद्धिमुनेरनुज्ञया, मुद्रणाऽर्थं लिपिकर्ता–पण्डित–गौरीशङ्कर–तनय–द्विवेदुपाह्वमदनकुमार शर्म्मा । फलोदी (फलवृद्धि) वास्तव्यः । वैक्रमीये २००७ तमीये वर्षे पोष शुक्ल १३ मन्दे च ॥ श्री गुर्विष्टप्रसादाच्छुभं भवतु ॥

उल्लेख इस प्रकार है। सम्वत् १९४९ वर्षे कार्तिक सुदि पूर्णिमासी मेदनीपुरवरे ॥

(४) प्रति कच्छ मांडवी नगर में श्री धर्मनाथस्वामि प्रसादस्थ ज्ञानभंडार में सुरक्षित है, पत्र सं. ७६ पञ्च पाठी। प्रान्त में पुष्पिका इस प्रकार है–

संवत् १६६७ वर्षे मागसिर मासे शुक्ल पक्षे एकादश्यां तिथौ गुरुवासरे श्री जेसलमेर दुर्ग प्रवरे, राउलश्री भीमजी राज्ये, श्री लोंका गच्छे आचार्य श्री ६ रत्नसीजी पठनार्थं, संघपति तेजपाल पुत्रे संघपति नीवा, ततः पुत्रे संघपति कचरा, स्वहस्तेन लिखिता, ऋषि श्री पृथ्वीमल्ल ऋषिरत्ना, लिखापिता वाच्यमाना शुभं भवतु।

उपरोक्त प्रतियों के आधार से स्वर्गस्थ मुनिजी गणिजी ने संशोधन करने का प्रयास किया और भव्य जीवों के उपकारार्थ द्वितीय दीपिका श्री हर्षकुलगणि रचित भी इसमें संमिलित की गई है, इसलिये पढनेवालों को बडी सुविधा रहेगी।

संशोधन करते समय बृहद्वृत्ति एवं हर्षकुलगणि की दीपिका संमुख रखके संशोधन किया है किसी किसी जगह पर उपयोगी पाठ समज करके पाठों के टिप्पण भी किए गये है। हर्षकुलगणिविरचित दीपिका इस प्रतिमें संपूर्ण नहि छपा है, इसका महत्त्वपूर्ण भाग हि इसमें दिया है।

पाठकप्रवर श्री साधुरंगगणि का विशेष परिचय नहीं मिलने से यहां नहीं दे सकता हुं और जो परिचय है सो इस ग्रंथ के अंतिम प्रशस्ति पृष्ठ-सं. १५४ पर दी गई है. इससे उनका परिचय मालुम हो जाता है.

परिशिष्ट नं. १

मूलसूत्राणामकाराद्यनुक्रमः ।

	पत्रांक
अ	
अह पुरिसे पुरित्थ०	१
अहावरे दोच्चे पुरि०	२
अहावरे तच्चे पुरि०	३
अहावरे चउत्थे पुरि०	४
अहभिक्खु लुहे०	५
अचमाउसो आता दीहेती०	९
अहावरे दोच्चे पुरि पंच०	१३
अहावरे चउ० पु० नियति०	१६
अहावरे दोच्चे दंड०	३७
अहावरे तच्चे दंड०	३९
अहावरे चउ० दंड०	३९
अहावरे पंच० दंड०	४०
अहावरे छट्ठे मोस०	४१
अहावरे सत्तमे किरिया०	४१
अहा० अट्ठमे किरिया०	४२
अहा० नवमे किरिया०	४२
अहा० दसमे किरिया०	४३

	पत्रांक		पत्रांक
अहा० एक्कारसमे किरिया०	४४	अहा० पुर० कम्मनिया०	७८
अहा० बारसमे किरिया०	४६	अहा० पुर० रुक्खेसु०	७९
अहा० तेरसमे किरिया०	४८	अहा० पुर० अज्झारु०	८०
अदुत्तरं च णं पुरिस	५२	अहा० पुर० पुढविजोणिया०	८१
अदुआ आणुगामिए	५१	अहा० पुर० जाव कम्म०	८२
अदुवं वा अन्तराए	५७	अहा० पुर० कम्मनिया०	८२
अहावरे दोच्चस्स ठाणं	६०	अहा० पुर० उदएसु०	८२
अहा० तच्चस्स ठाण०	६०	अहा० पुर० चेव पुढवि०	८३
अहा० पढम[स्स] ठाण०	६१	अहा० पुर० नाणाविहाणं०	८४
अहा० दोच्च० ठाण० धम्म०	६६	अहा० पुर० णाणाविहाणं०	८५
अहा० तच्च० ठाण० मीस०	७०	अहा० पुर० चउप्पय०	८६
अविरतिं पडुच्च बाले	७२	अहा० पुर० उरपरि०	८९
अहावरं पुक्खरायं	७८	अहा० पुर० भुयपरि०	८७

	पत्रांक
अहा० पुर० खहयर०	८७
अहा० पुर० इहेगतिया०	८८
अहा० पुर० सत्तानाणा०	८९
अहा० पुर० सवाउदग०	९०
अहा० पुर० उदएसु०	९०
अहा० पुर० नाणाविह०	९०
अहा० पुर० वाउकाय०	९१
अहा० पुर० पुढविचापे०	९१
अहा० पुर० सव्वे पाणा०	९२
असंतएणं मणेणं०	९४
अन्नयरेणं मणेणं०	९४
अहाकम्माणि भुंजंति०	१०६
असेसं अक्खयं वा०	११२
अहिंसयं सव्वपयाणुं०	१२२
अहवा वि विद्धूण०	१२३
अजोयरूवं इह०	१२३
अव्वतरूवं पुरिसं	१२८
अब्भाइक्खंति खलु	१३७

आ

आसंदीपंचमा पुरिसा०	९
आयरिया वेगे अणारिया०	३५
आया अपच्चक्खाणी आवि०	९३
आचार्य आह—जहा से०	९६
आदाय बंभचेरं च०	१०३
आगंतगारे आराम०	११८
आरंभगं चेव परिग्गहं०	१२१

उपरोक्त दोनो टीकाओ के आधार पर स्वर्गस्थ गणि श्री बुद्धिमुनिजी महाराज ने अत्यंत परिश्रम करके संपादन किआ है विशेष करके तो शरीर अस्वस्थ होने पर भी फारम का खुद ही संशोधन करते थे. एवं पंडित कपुरचंदजी वारैया को भी तबियत की ज्यादा अस्वस्थता के कारण संशोधन के लिए दिए गये थे. ज्यादा सावधानी रखने पर भी यदि कोई त्रुटीयां रह गई हों तो सुज्ञ वाचक वर्ग सुधार के पढे यही प्रार्थना है.

ज्ञानवृद्धि के हेतु से उपरोक्त प्रतियो को प्रदान करने में जीन जीन महाशयोने सहायता दी है वह धन्यवाद के पात्र है.

श्री देवचंद लालभाई ट्रस्ट के कार्यवाहक श्रीयुत् केशरीचंदजी हीराचंदजी के द्वारा प्रस्तावना आदि लिखने की सूचना मिलने पर 'निवेदन' मैंने लिखा है. एवं गणि श्री बुद्धिमुनि जी महाराज के शिष्य जयानंदमुनिने भी मूलसूत्र की अकारादि परिशिष्ट तथा दीपिकागत सुभाषित गद्य पद्य संग्रह लिखने में भी प्रयत्न किया है।

अतः संपादक महाशयजी का परिश्रम को ग्रंथ पठनपाठन करके ज्ञानवृद्धि साथ सफल करे. इति शुभेच्छा।

ठि० माधवलाल बाबु
धर्मशाला–पालीताणा.
सं. २०१८ कार्तिक शुक्ला ११

निवेदक :—
उपाध्याय श्री सुखसागरजी म. के शिष्य
मुनि मङ्गलसागर

	पत्रांक
एहं अहेयं तिरियं०	११८
एडं अहेयं ति० विजाय०	१२४

ए

एवं एगे पागब्भिता०	१२
एवं से भिक्खु विरए०	२९
एत्थ वि सिया एत्थ०	३०
एवं से भिक्खु धम्मत्थी०	३४
एवामेव ते इत्थिकामेहिं०	६४
एवामेव समणुगम्म०	७२
[एवं] ओसहीणं चत्ता०	८१
एवं खलु भगवया०	१०१
एवं से भिक्खु विरते०	१०२
एएहिं दोहिं ठाणेहिं०	१०३

	पत्रांक
एएहिं दोहिं ठाणेहिं०	१०४
,, ,, ,, ०	१०५
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं०	१०७
एगंतमेवं अदुवावि०	११४
एवं ण मिज्जंति न संस०	१२९
एवं ण्हं पच्चक्खंताणं०	१३५

क

किट्टिए नाए समणाउसो०	५
किरियाइ वा अकिरि०	११
किरियाति वा जाव०	२१
कल्लाणे पावए वा वि०	११२
किं तेसिं तहप्पगा०	१५४

ग

गंता व तत्था अदुवा०	१२०

	पत्रांक
च	
चोयगः—से किं कुव्वं०	१०१
ज	
जंपि य इमं समाणाणं०	१८
जे खलु गारत्था सारंभा०	२८
जे [य] अतीया०	२९
जे इमे तसा थावरा०	३०
जे इमे कामभोगा०	३१
जंपि य इमं संपरा०	३१
जावि य से अभिंतरिया०	६४
जहा से वहए तस्स वा०	९७
जे एए सन्नी वा असन्नी०	१०१
जे केइ खुड्डगा पाणा०	१०४
जमिदं ओरालमाहारं०	१०६
जेयावि बीओदग भोति०	११७
जीवाणुभागं सुविचिंतय०	१२५
जे यावि भुंजंति तहप्प०	१२६
जे गरहियं ठाणमिहा०	१३०
ण	
णोऽकामकिच्चा ण य०	११९
णवं ण कुज्जा विहुणे०	१२०
णेगंतिएऽणच्चंतिय०	१२२
त	
तत्थ खलु भगवया०	२८
तत्थ भिक्खु परक्कं०	३१
तत्थ णं [जे से] पढमस्स०	३५

	पत्रांक
ते इणमेव जीवितं०	५८
तं सद्दा अभं जमकाले०	५८
तत्थ णं पगामवि०	५९
तेणं णरगा अंतो०	६५
तेणं तत्थ देवा भवंति०	७०
ते सव्वे पाषाइया०	७३
तत्थ णं जीवा इत्थि०	८४
ते जीवा माउए वयं०	८५
तत्थ खलु भगवया०	८७
तत्थ खलु भगवता०	८७
तत्थ खलु भगव० दुवे०	९७
तत्थ से थपिवि[षि]ता	१००
तत्थ खलु भगव० छज्जीव०	१०१

	पत्रांक
ते अणमणसतु०	११७
तं भुंजमाणा मिसिय०	१२६
तेणं कालेणं तेणं समए०	१३३
तत्थ णं नालंदाए०	१३३
तस्स णं लेवस्स गाहा०	१३३
तस्सि च ण गिहपदे०	१३४
तसेहिं पाणेहिं निहाय०	१३९
तसा वि वुच्चंति तसा०	१४०
तत्थ आरेणं जे तसा०	१५०
तत्थ जे आरे० जाव आवं०	१५१
तए णं से उदए पेढाल०	१५३
थ	
थूलं उरब्भं इह मारि०	१२५

	पत्रांक
आउसंतो गोयमा०	१३४
आउसो गोयमा०	१३४
आउसंतो उदगा०	१५३
इ	
इह खलु पाईणं वा०	७
इह खलु पंच मह०	१४
इह खलु धम्मा पुरिसा०	१६
इमं सच्चं इमं तहित०	१८
इह खलु दुवे पुरिसा०	१९
इच्चेते चत्तारि पुरिस०	२१
इह खलु पुरिसे अन्न०	२२
इह खलु मम अन्न०	२३
इह खलु कामभोगा०	२३
इह खलु मम अन्न०	२४
इह खलु गारत्था सारंभा०	२६
इह खलु गा० कामभोगा०	२७
इह खलु तस्स भिक्खुस्स०	३३
इह खलु नाणपण्णाणं०	४९
इच्चेयस्स ठाणस्स०	६०
इच्चेएहिं बारसहिं०	७५
इति खलु ते असन्निणो०	१००
इच्चेएहिं ठाणेहिं०	११३
इमं वयं तु तुमं पाउ०	११७
उ	
उग्गा उग्गपुत्ता०	८
उड्ढं पादतला अहे०	८

	पत्रांक
नत्थि सिद्धी नियं ठाणं०	११०
नत्थि साहु असाहु वा०	१११
नत्थि कल्लाण पावे वा०	१११
न किंचि रूवेणऽभि०	११८
निग्गंथधम्मंमि इमं०	१२७
नन्नत्थ अभिओगेणं०	१३५
प	
पुव्वामेव तेसिं पायं०	१२
पुढवी एगो महब्भुते०	१४
पढमे दंड समादाणे०	३६
पुरे कडं अद्द ! इमं सुणेह०	११४
पन्नं जहा वणीए०	१२०
पिन्नाग पिंडीमवि०	१२२

	पत्रांक
पुरिसं च विद्धूण०	१२३
पुरिसेति पिन्नंति०	१२४
ब	
बाले पुण एवं विप्पडि०	१९
बुद्धस्स आणाइ इमं०	१३२
भ	
भासं उप्पायं सुविणं०	५०
भण [ह] देवाणुप्पिया०	५९
भूयाभिसंकाइ दुगुंछ०	१२६
भगवं च णं उदाहु०	१४२
भ० च णं उ० इह खलु गाहा०	१४३
भ० च णं उ० केइ ख० परि०	१४४
भ० च णं उ० संतेगतिया०	१४५

	पत्रांक
भ० च णं उ० सं० नो खलु०	१४६
भ० च णं उ० सं० मणुस्सा०	१४७
भ० च णं उ० सं० भवंति आर०	१४८
भ० च णं उ० सं० पाणा०	१४९
भ० च णं उ० सं० पाणा भवंति०	१४९
भ० च णं उ० सं० समणो०	१५०
भ० च णं उदा० ण एय भूयं०	१५२
भ० च णं उदा० आउसंतो०	१५३
भ० च णं उदा० तते णं०	१५३
म	
महया हिमवंतमलय०	७
महव्वए पंच अणुव्वए०	११६
मेहाविणो सिक्खिय०	११९

	पत्रांक
ल	
लोयं च खलु मए०	६
लद्धे (हु) अट्ठे अहो०	१२४
लोयं अजाणितिह०	१२९
लोयं विजाणितिह०	१३०
व	
विज्झति तेसिं परक्कमे०	३१
वितेसिणो मेहुणप्पसंप०	१२१
वायाभिओगेण जमाव०	१२४
स	
सुयं मे आउसंतेणं०	१
से जहानामए केइ०	१०
सच्चो णत्थि विणासो०	१५

	पत्रांक
से किणं किणावेमाणे०	१५
से जहानामए गंडे०	१६
से जहानामए अरई०	१७
से जहानामए वम्मिए०	१७
से जहानामए रुक्खे०	१७
सउणीपंजरं जहा०	१८
से बेमि पाइणं वा० ४ संते०	२१
से मेहावी जाणेज्जा०	२४
से मेहावी जाणिज्जा बाहिर०	२५
से बेमि० पाइणं वा ४ जाव०	२८
से बेमि पाइणं वा०	३०
से भिक्खु जाणेज्जा०	३१
संति विरतिं उवसमं०	३२
से भिक्खु धम्मं किट्टे०	३३
समणेति वा माहणेति०	३४
सुयं मे आउसं इ० ख० किरिया०	३५
से जहानामए केइ०	३८
से जहानामए केइ० पुरि० कच्छं०	३८
से जहानामए के० पु० सालीणि०	४०
से जहानामए के० पु० गावधा०	४०
से जहानामए के० पु० अंतोसल्ले०	४४
से एगइओ आयहेउं०	५१
से एगतिओ आणुगा०	५२
से एगइओ उवचर०	५२
से एगइओ पाडिपहिय०	५२
से एगतिए संधिच्छे०	५२

	पत्रांक
थावरकायाओ विप्प०	१४१
द	
देहाचुए कम्मवित्तिए०	४३
दोसेइ वा पेसेइ भय०	६३
दीसंति समियाचारा०	११३
दक्खिणाए पडिलंभो०	११३
दयावरं धम्म दुगुंछ०	१२८
दुहओ वि धम्मंपि०	१२८
ध	
धम्मं कहंतस्स उ०	११५
न	
नो इणमट्ठे समट्ठे०	९७
नत्थि लोए अलोए वा०	१०७

	पत्रांक
नत्थि जीवा अजीवा वा०	१०७
नत्थि धम्मे अहम्मे वा०	१०७
नत्थि बंधे व मुक्खे वा०	१०८
नत्थि पुण्णे व पावे वा०	१०८
नत्थि आसवे संवरे वा०	१०८
नत्थि वेयणा निज्जरा वा०	१०८
नत्थि किरिया अकिरि०	१०९
नत्थि कोहेव माणे वा०	१०९
नत्थि माया व लोभे वा०	१०९
नत्थि पेज्जे व दोसे वा०	१०९
नत्थि चाउरंते संसारे०	११०
नत्थि देवा व देवी वा०	११०
नत्थि सिद्धी असिद्धी वा०	११०

	पत्रांक
सव्वजोणिया वि खलु०	१००
समुच्छिहिंति सत्थारो०	१०३
साऽऽजीविया पट्ठविता०	११४
समिच्च लोयं तस पाव०	११५
सीओदगं सेवउ बीय०	११६
सीओदगं वा तह बीय०	११६
सिया य बीओदगइ०	११७
समारभंते वणिया०	१२१
सिणायगाणं तु दुवे०	१२३
सिणायगाणं तु दुवे०	१२५
सव्वेसि जीवाण दयट्ठ०	१२६
सिणायगाणं तु दुवे०	१२७
सिणायगाणं तु दुवे०	१२७

	पत्रांक
संवच्छरेणावि य एग०	१३०
संवच्छरेणावि य एग०	१३१
संवच्छरेणावि य एग०	१३१
संवच्छरेणावि य एग०	१३५
सवायं भगवं गोयमे०	१३६
संसारिया खलु पाणा०	१३७
सवायं उदये पेढाल०	१३७
सवायं उदये पेढाल०	१४१
संसारिया खलु पाणा०	१४१
सवायं भगवं गोयमे०	१४१

ह

हण छिंद भिंद विगत्तगा०	६१

परिशिष्ट नं. २

दीपिकागत-सुभाषित-पद्य-गद्य-संग्रहस्याकाराद्यनुक्रमणिका।

पत्रांक

अ

अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म, आत्मा कपिलदर्शने ॥ १४

अक्खंगेण व सगडं न तरइ विगइं विणा उ जो साहू।
सो रागदोसरहिओ, मत्ताए विहीइ तं सेवे ॥ ३२

अज्झत्थविसोहिए, जीवनिकाएहिं संथ (डे) डो लोए।
देसियमहिंसयत्तं, जिणेहिं तेल्लोक्कदंसीहिं ॥ १०५

अन्नाणनिरंतरतिमिर पूरपूरियंमि भवभवणे।
को पडइ ? पयत्थे, जइ गुरुदीवा न दिप्पंति ॥ १११

पत्रांक

अट्ठ गुणाणं मज्झे, इक्केण गुणेण संपयाक्कलं।
तित्थुन्नयं कुणंतो, जुगपवरो सो इहं नेओ ॥ १११

अप्पत्तियं जेण सिआ, आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहियगामिणिं ॥ ११२

आ

आया चेव अहिंसा, आया हिंसत्ति निच्छओ।
एसो जो होई अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥ १०५

इ

ईसीपब्भाराए, उवरिं खलु जोयणंमि जो कोसो।

पत्रांक

कोसस्स च छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ १११

उ

उच्चालियंमि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तज्जोगमासज्ज ॥ १०५

ए

एकस्य जन्ममरणे, गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते ।
तस्मादाकालिकहित--मेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥ २५
एरण्डफलबीजादे--र्बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।
कर्मबन्धनविच्छेदात्, सिद्धस्यापि तथा भवेत् ॥

क

कुसुमपुरोप्ते बीजे, मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति ।
यत्रैव तस्य बीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः ॥ ७७
को दुःखं पाविज्जा ? कस्स व सुक्खेहि विम्हओ हुज्जा ?
को व न लहिज्ज ? मुक्खं, रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥ १०९

पत्रांक

कुलालचक्रदोलेषु, मुख्याणां हि यथा गतिः ।
पूर्वप्रयोगतः सिद्धा, सिद्धस्योर्द्धगतिस्तथा ॥ १११
केवलमणोहिचउदस--दसनवपुव्वीहि संपयं रहिए ।
सुद्धमसुद्धं चरणं को जाणई ? कस्स भावं च ॥ १११
कालाइदोसवसओ, कहवि दीसंति तारिसा न जइ ।
सव्वत्थ तहवि नत्थित्ति, नेव कुज्जा अणासासं ॥ १११
कालोचियजयणाए मच्छररहियाण वज्जमंताणं ।
जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जईण सया ॥ १११
केवइयं कालं तु देवाणुप्पियाणं तित्थे अणुसज्जिसइ ?
गोयमा ! इक्कवीसवाससहस्साइं मम तित्थे अणुस-
ज्जिस्सइ, तित्थं पुण चाउवण्णो समणसंघो समणा
समणीओ सावया साविया‌ओ ॥ १११

	पत्रांक
से एगतिए गंठिच्छे०	५३
से एगतिए उरब्भिय०	५३
से एगतिए सोयरिय०	५३
से एगइओ वागुरि०	५३
से एगइओ साउणि०	५४
से एगइओ मच्छिय०	५४
से एगइओ गोघाय०	५४
से एगतिओ गोपाल०	५४
से एगतिओ सोवणि०	५४
से एगतिओ सोय० पडि०	५४
संतेगतिया मणुस्सा०	५५
से एगइओ केणवि०	५५
से एग० केण० आयाणेणं०	५५

	पत्रांक
से एगतिओ केणइ आदा०	५५
से एगतिओ केणइ आया०	५५
से एगइओ केणइ आदा०	५६
से एगइओ नो विति०	५६
से एगइओ गो० वि० गाहाव०	५७
से एगतिओ समणं०	५७
से जहानामए केइ०	६३
से जहानामए (केइ) रुक्खे०	६६
से जहानामए अणगारा०	६७
से जहानामए समणो०	७१
सुयं मे आउसं० इ० ख० आहार०	७६
सुयं मे आउसं० इ० ख० पच्चक्खा०	९३
से किं तं असण्णिदिट्ठंते०	९९

पत्रांक

तणसंथारनिसण्णोऽवि, मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो ।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो ? तं चक्कवट्टीवि ॥ ११२

न

न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणवज्जे य पओगे, ण सव्वभावेण सो जम्हा ॥ १०५
नाणी कम्मस्स खयट्ठ-मुट्ठिओ नो ठिओ य हिंसाए ।
जयइ असढं अहिंस(त्थ)-मुट्ठिओ अवहिओ सो य ॥ १०५
न य हिंसामित्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होई ।
सुद्धस्स य संपत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं ॥ १०५
न चाधो गौरवाभावा-न्न तिर्यक् प्रेरकं विना ।
न च धर्मास्तिकायस्याभावाल्लोकोपरि व्रजेत् ॥ १११
नृलोकतुल्यविष्कम्भा, सितच्छत्रनिभा शुभा ।
ऊर्द्ध तस्याः क्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ १११

पत्रांक

नो किण्हे नो नीले नो लोहिए नो हालिद्दे नो सुक्किले नो सुरभिगंधे नो दुरभिगंधे नो तित्ते नो कडुए नो कसाए नो अंबिले नो महुरे (नो लवणे) नो वट्टे नो तंसे नो चउरंसे नो परिमंडले नो दीहे नो हस्से नो गुरुए नो लहुए नो सीए नो उण्हे नो कक्खडे नो मउए नो इत्थी नो पुरिसे नो अन्नहा ॥ १११

प

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति
नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि
यत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ ९९
पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास निश्वास-
मथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां
वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १०५

पत्रांक

प्रत्यक्ष एव विश्वेऽस्मिन् प्रपञ्चः पुण्यपापयोः
द्विभिन्नं(न्नं) जगत्सर्वं, सुखदुःखव्यवस्थया ॥ १०८
पूर्वप्रयोगतोऽसङ्ग-भावाद्बन्धविमोक्षतः । स्वभाव-
परिणामाच्च, सिद्धस्योर्ध्वगतिर्भवेत् ॥ १११
पलए महागुणाणं, हवंति सेवारिहा लहुगुणा वि ।
अत्थमिए दिणनाहे, अहिलसइ जणो पईवं पि ॥ १११

ब

ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुक् व्यालुप्तशिश्नो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्का-
ङ्कितः । स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुः संस्थैरुपस्थैः
कृतः, सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ॥ ११८

म

मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षा-द्यथा दृष्टाऽऽश्वलाबुनः ।
पूर्वसङ्गविनिर्मोक्षा-त्तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥ १११
मनोज्ञा सुरभिस्तन्वी, पुण्या परमभासुरा ।
प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ १११

य

यथाऽधस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोष्टवाय्वग्निवीचयः ।
स्वभावतः प्रवर्तन्ते, तथोर्ध्वगतिरात्मनः ॥ १११

र

रत्तो वा मूढो वा, जो पउंजइ पओगं । हिंसा वि
तत्थ जायइ, तम्हा सो हिंसओ वुत्तो ॥ १०५
रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ? । अत्र
नो निर्जितावेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ? ॥ ११५
राजानं तृणतुल्यमेव मनुते शक्रेऽपि नैवादरः, वित्तो-

पद्यांक

पार्श्वेनरक्षणव्ययकृता: प्राप्नोति नो वेदना: । संसारा-
न्तरवर्त्यपीह लभते शं मुक्तमभियः, संतोषात्पुरुषोऽमृत-
त्वममचिराद्यायात्सुरेन्द्रार्चितः ॥ १२७

स

सव्वत्थ संजमं सं-जमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा ।
मुच्चइ अइवायाओ, पुणो वि सोही न (त) या (?) विरई ॥ १०६
संथरणंमि असुद्धं, दुण्ह वि गिण्हंतदितयाणऽहियं,

पद्यांक

आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ १०६

ह

हिंसत्थं जुंजंतो सुमहं दोसो, अ(ण)णंतरं इयरो ।
अममो य अप्पदोसो, जोगनिमित्तं च विसेसो ॥ १०५

क्ष

क्षयं नीत्वा स लोकान्तं, तत्रैव समये व्रजेत् ।
सकलसिद्धत्वपर्यायः परमेष्ठी सनातनः ॥ ११०

श्रेष्ठि-देवचन्द्र-लालभाई-जैनपुस्तकोद्धारे ग्रन्थाङ्कः १०९. अनुसन्धान

ॐ नमः प्रवचनाय । ॐ नमोऽर्हते श्रीवर्द्धमानस्वामिने ।

परमसुविहितश्रीमत्खरतरगच्छविभूषणमहोपाध्यायश्रीमत्साधुरङ्गगणिवर्यगुम्फितया दीपिकया समलङ्कृतं

सूयगडाङ्गसूत्रम् ।

तस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धात्मको द्वितीयो विभागस्तत्राद्यं पौण्डरीकाध्ययनं ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पोंडरीए नामऽज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते—से जहा नामए पुक्खरिणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरीकिणी पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपुंडरीया बुइया। अणुपुव्विट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादिया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभागे

एगे महं पउमवरपुंडरीए बुइए, अणुपुविट्ठिए ऊसिते रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए जाव पडिरूवे । सव्वावंति च णं तीसे य पुक्खरिणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपुंडरीया बुइता, अणुपुविट्ठिता जाव पडिरूवा । [सव्वावंति च णं तीसे णं पुक्खरिणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपुंडरीए बुइए अणुपुविट्ठिए जाव पडिरूवे (सू० १)] ॥

व्याख्या—श्रुतं मया आयुष्मता भगवतैवमाख्यातं, किमाख्यातं ? भगवता 'इह खलु पोंडरी(ए)यं नामऽज्झय(णे)णं' इह–द्वितीयाङ्गे श्रुतस्कन्धे द्वितीये 'खलु' शब्दो वाक्यालङ्कारे, 'पुण्डरीकेण' धवलकमलेनोपमा भविष्यतीति कृत्वाऽस्याध्ययनस्य पौण्डरीक इति नाम कृतम् । तस्य चायमर्थः, णमिति वाक्यालङ्कारे । 'प्रज्ञप्तः' प्ररूपितः 'से जह'त्ति तद्यथा 'नाम' इति सम्भावने, पुष्करिणी 'स्यात्' भवेदेवम्भूता । तद्यथा—'बहूदका' बहुजला तथा 'बहुसेया'+ बहुकर्दमा 'बहुपुक्खला' बहुसम्पूर्णा प्रचुरोदक[युक्ता]भूता 'लब्धार्था' यथार्था, यथा नाम्ना तथा स्वभावेन 'पुण्डरीकिणी' श्वेतकमलसहिता–बहुश्वेतपद्मा । 'पासादीया' निर्मलजलपूर्णत्वात् 'दर्शनीया' दर्शनयोग्या 'अभिरूपा' [आभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि] हंसचक्रवाकसारसादीनि जलान्तर्गतानि वा करिमकरादीनि यस्यां सा अभिरूपेति, तथा 'प्रतिरूपा' स्वच्छत्वात्सर्वत्र प्रतिबिम्बानि समुपलभ्यन्ते । 'तीसे णं पुक्खरिणीए' तस्याश्च पुष्करिण्या-

+ " सीयन्ते–बध्यन्ते यस्मिन्नसौ सेयः–कर्दमः, स [बहु]र्यस्यां सा बहुसेया " इति दर्पे० ।

स्तत्र तत्र देशे देशे–एकैकप्रदेशे, नास्ति स प्रदेशः पुष्करिण्याः यत्र तानि पुण्डरीकाणि न सन्ति। तत्र तत्र देशे देशे बहूनि पद्मवरपुण्डरीकाणि 'बुइय'त्ति उक्तानि–प्रतिपादितानि [illegible] इत्यर्थः [illegible]पुव्व[illegible]' [illegible] उच्छ्रितानि–जलोपरि व्यवस्थितानि तथा 'रुचिराणि' दीप्तिमन्ति तथा शोभनवर्णगन्धरसस्पर्शोपेतानि। अभिरूपाणि इत्यादिपूर्ववत्। तस्याश्च पुष्करिण्याः सर्वतः पद्मावृतायाः (सर्वतः पद्मवेष्टितायाः) बहुमध्यदेशभागे एकं महत्पद्मवर-पुण्डरीकमनुक्रमानुपूर्व्येण व्यवस्थितमुच्छ्रितं, रुचिरं वर्णगन्धरसस्पर्शोपेतं। अभिरूपं प्रतिरूपं प्रासादीयं दर्शनीयं अतीव शोभायमानं पद्मवरपुण्डरीकं विद्यते ॥ १ ॥

अह पुरिसे पुरत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं, अणुपुव्विट्ठितं ऊसियं जाव पडिरूवं। तते णं से पुरिसे एवं वयासी–अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिते वियत्ते+मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गति-परक्कमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमेति तं पुक्खरिणीं, जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए, पहीणे तीरं,

---

+ यद्यपि 'वियत्ते' इत्येतस्यैवार्थो 'व्यक्त' इति लिखितस्तथापि मूले 'मेयन्ने' इति पाठः सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिषु।

अपत्ते पउमवरपुंडरीयं, नो हव्वाए नो पाराए, अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि वि[नि]सन्ने, पढमे पुरिसजाए (सू० २) ॥

अथानन्तरमेवम्भूतपुष्करिण्याः पूर्वस्या दिशः कश्चिदेकः पुरुषः समागत्य तां पुष्करिणीं, तस्याश्च (पुष्करिण्याः) 'तीरे' तटे स्थित्वा पश्येत् (पश्यति, पश्यतु) एवं पूर्वोक्तविशेषणकलापोपेतं स पुरुषः, पूर्वदिग्भागव्यवस्थित 'एवं' वक्ष्यमाणनीत्या 'वदेत्' ब्रूयात्–'अहमंसि'त्ति अहमस्मि पुरुषः, किम्भूतः ? ('खेयन्नो' यतोऽभिलषितकार्यकरणकालभाविपरिश्रमज्ञः) 'कुसल'श्चतुरो–निपुणः, तथा 'पण्डितः' धर्मज्ञो देशकालज्ञो वा । 'व्यक्तो' बालभावान्निष्क्रान्तः–परिणतबुद्धिः 'मेधावी' प्लवनोत्प्लवनयोरुपायज्ञः+तथा 'अबालो' मध्यमवयाः षोडशवर्षोपरिवर्ती 'मार्गस्थः' सद्भिराचीर्णमार्गव्यवस्थितो मार्गज्ञस्तथा मार्गस्य या 'गति'र्गमनं वर्तते, तया यत्पराक्रमणं–विवक्षितदेशगमनं, तज्जानातीति पराक्रमज्ञो, यदि वा 'पराक्रमः' सामर्थ्यं तज्ज्ञोऽहमात्मन इत्यर्थः, तदेवम्भूतोऽहमेतत्पद्मवरपुण्डरीकं पुष्करिणीमध्यदेशव्यवस्थितमुत्क्षेप्स्यामि–निष्कासयिष्यामीति कृत्वेहागतः, इत्युक्त्वाऽसौ पुरुषस्तां पुष्करिणीमभिमुखं क्रामेत्–तदभिमुखं गच्छेत् । याव[याव]च्चासौ तदवतरणाभिप्रायेणाभिमुखं क्रामेत्ताव[ताव]च्च 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे, तस्याः पुष्करिण्या महत्यगाधे जले कर्दमे च मग्नः । तत्राऽऽकण्ठं निमग्नत्वादत्याऽऽकुलीभूतः 'प्रहीण'स्तीरादात्मानं उद्धर्तुमसमर्थो विवक्षितपद्मवरपुण्ड-

+ मज्जनोन्मज्जनयोर्विधिज्ञः ।

रीकमप्राप्तस्तस्माच्च तीरादपि प्रभ्रष्टः, तीरपद्मयोरन्तराल एवावतिष्ठते। यत एवं अतो ' नो हव्वाए ' नार्वाक्तटवर्त्यसौ भवति ' नो पाराए ' त्ति न पारगमनाय समर्थो भवति। एवमसावुभयभ्रष्टोऽजनि, इत्ययं प्रथमः पुरुषजातः ॥ २ ॥

अथ प्रथमपुरुषानन्तरं द्वितीयपुरुषस्वरूपमुच्यते—

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए—अह पुरिसे दक्खिणाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणिं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं, अणुपुव्वुट्ठितं जाव पडिरूवं, तं च एत्थं एगं पुरिसजातं पासति पहीणतीरं अपत्तपउमवरपुंडरीयं नो हव्वाए नो पाराए अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि निसन्नं। तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वयासी—अहो ! णं इमे पुरिसे अखेयन्ने अकुसले अपंडिए अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, जन्नं एस पुरिसे [मन्ने]—अहं णं खेयन्ने अहं कुसले जाव पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामि, णो[य] खलु एयं पउमवरपुंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं, जहा णं एस पुरिसे मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामि[त्ति कट्टु] इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं,

जावं जावं च णं अभिक्कमेइ तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपुंडरीयं णो हव्वाए णो पाराए [अंतरा पुक्खरिणीए] सेयंसि वि[नि]सन्ने, दोच्चे पुरिसजाए (सू० ३) ॥

व्याख्या—अथ (अपरो द्वितीयः) कश्चित्पुरुषो दक्षिणदिग्भागादागत्य तां पुष्करिणीं, तस्याश्च पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा तत्रस्थश्च पश्यति महदेकं पद्मवरपुण्डरीकमानुपूर्व्येण व्यवस्थितं प्रासादीयं यावत्प्रतिरूपं, ततस्तीरे व्यवस्थितः, तं च पूर्वव्यवस्थितं चैकं पुरुषं पश्यति, किम्भूतं ? तीरात्परिभ्रष्टं अप्राप्त[पद्म]वरपुण्डरीकमुभयभ्रष्टं अन्तराल एवावसीदन्तं दृष्ट्वा द्वितीयः पुरुषस्तं प्राक्तनं पुरुषमेवं वदेत्—अहो ! योऽसौ कर्दमनिमग्नः पुरुषः सोऽखेदज्ञोऽकुशलोऽपण्डितोऽमेधावी बालो न मार्गस्थो नो मार्गज्ञो नो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञः, अकुशलत्वादिकं कारणमाह—यद्यस्मादेष पुरुष एतत्कृतवान्, तद्यथा—अहं खेदज्ञः कुशल इत्यादि भणित्वा पद्मवरपुण्डरीकमुत्क्षेप्स्यामीत्येवं प्रतिज्ञातवान् । न चैतत्पद्मवरपुण्डरीकमेवमुत्क्षेप्तव्यं, यथाऽनेनोत्क्षेप्तुमारब्धं, ततोऽहमेवास्योत्क्षेपणे कुशल इति दर्शयितुमाह—' अहमंसी 'त्यादि, अहं खेदज्ञः कुशलः पण्डितो मेधावी, अहमेतत्पद्मवरपुण्डरीकमुद्धरिष्यामि, इत्युक्त्वाऽसावपि द्वितीयः पुरुषः पुष्करिणीमभिमुखं व्रजेत्, तावताऽगाधे पानीये कर्दमे च मग्नः तीराद्भ्रष्टो द्वितीयतीरं च न प्राप्तः, उभयभ्रष्टोऽभूत्, पद्ममपि नोद्धर्त्तुं अन्तराल एव व्यवस्थितः, इत्यादि । एवं द्वितीयोऽपि पुरुषः ॥ २ ॥

अहावरे तच्चे पुरिसजाए—अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे

पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं अणुपुव्वुट्ठितं जाव पडिरूवं, ते तत्थ दोन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते पउमवरपुंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए जाव सेयंसि निसन्ने। तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो!! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी बाला णो मग्गत्था णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू। जन्नं एते पुरिसा एवं मन्ने—अम्हे एतं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, नो [य] खलु एयं पउमवरपुंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं, जहा णं एए पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खेस्सामि [त्ति कट्टु] इति वुच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरिणिं, जावं जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव अंतरा पुक्खरिणीए सेयंसि वि[नि]सन्ने, तच्चे पुरिसजाए (सू० ४) ॥

व्याख्या—अथ तृतीयः पुरुषः पश्चिमदिग्विभागादागत्य पुष्करिण्यास्तीरे स्थित्वा प्रथमपुरुषद्वितयवत् पूर्वोक्तं वचनप्रपञ्चं कथयित्वा कमलोद्धाराय प्रविष्टः। कमलमुद्धर्तुमसमर्थ अन्तराल एव कर्दमे मग्नः, इति तृतीयः पुरुषः ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थः पुरुषः—

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए–[अह पुरिसे] उत्तराओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति [तं महं] एगं पउमवरपुंडरीयं [अणुपुव्विट्ठियं] जाव पडिरूवं, ते तत्थ तिन्नि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अपत्ते जाव सेयंसि वि[नि]सन्ने। तते णं से पुरिसे एवं वदासी–अहो!! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, जन्नं एते पुरिसा एवं मन्ने–अम्हे एतं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, णो[य] खलु एयं पउमवर-पुंडरीयं[एवं] उन्निक्खेयव्वं, जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमंसि पुरिसे खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामि[त्ति कट्टु इति वुच्चा से पुरिसे तं पुक्खरिणीं अभिक्कमेइ, [जावं] जावं च णं अभिक्कमे तावं तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाव वि[नि]सन्ने, चउत्थे पुरिसजाए ॥ (सू० ५)

व्याख्या—अथ चतुर्थः पुरुष उत्तरस्या दिशः समागत्य तत्पुरुषत्रिकं दृष्ट्वा तथैवोक्त्वा तथैव पद्मोद्धरणाय प्रविष्टः, पूर्वपुरुषत्रिकवत् पङ्के निमग्नः, एवं चत्वारोऽपि पुरुषाश्चतुर्षु दिक्षु निमग्नाः ॥ ५ ॥

साम्प्रतं पञ्चमं पुरुषं तद्विलक्षणमधिकृत्याह—

अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव [गति]परक्कमन्नू अन्नतरीओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं जाव पडिरूवं, ते तत्थ चत्तारि पुरिसजाए पासति पहीणे तीरं अपत्ते [पउमवरपुंडरीयं नो हव्वाए नो पाराए] अंतरा पुक्खरिणीए जाव (?) सेयंसि वि[नि]सन्ने। तते णं से भिक्खू एवं वदासि–अहो!! णं इमे पुरिसा अखेयन्ना जाव नो मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, जन्नं एते पुरिसा एवं मन्ने–अम्हे [एयं] पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामो, णो[य]खलु एयं पउमवरपुंडरीयं एवं उन्निक्खेतव्वं, जहा णं एते पुरिसा [मन्ने]। अहमंसि भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयन्ने जाव मग्गस्स गतिपरक्कमन्नू, अहमेयं पउमवरपुंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वुच्चा से भिक्खू णो अभिकमे तं पुक्खरिणीं, तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा 'उप्पयाहि खलु भो पउमवर-पुंडरीया! उप्पयाहि' अह से उप्पतिते पउमवरपुंडरीए (सू० ६)॥

व्याख्या—अथ चतुर्थपुरुषादनन्तरं पञ्चमः पुरुषस्तस्यामूनि विशेषणानि–'भिक्षुः' पचनपाचनादिसावद्यानुष्ठानरहितो निर्दोषाहारभोजी रागद्वेषरहितः, अत एव 'लूहे' रूक्षः, संसाराब्धेस्तीरार्थी तथा खेदज्ञः, पूर्वव्याख्यातान्येवामूनि विशेषणानि, स च पञ्चमः पुरुषो भिक्षुः अन्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वाऽऽगत्य तां पुष्करिणीं, तस्याश्च तीरे स्थित्वा समन्तादवलोकयन् बहुमध्यदेशभागे तन्महदेकं पद्मवरपुण्डरीकं पश्यति, तांश्च चतुरः पुरुषान् पश्यति। किम्भूतान् ? त्यक्ततीरान् अप्राप्तपद्मवरपुण्डरीकान् पङ्कजलावमग्नान्, पुनस्तीरमप्यागन्तुमशक्तान् दृष्ट्वा ततोऽसौ भिक्षुरेवमिति वक्ष्यमाणरीत्या वदेत्। तद्यथा–अहो ! ! इमे चत्वारः पुरुषा अखेदज्ञा यावत्तो मार्गस्य गतिपराक्रमज्ञाः। यथैते पुरुषाः एवं ज्ञातवन्तो, यथा–वयं पुण्डरीकमुत्क्षेप्स्यामः–उद्धरिष्यामः। न च तत् खलु पुण्डरीकमेवमनेन प्रकारेण उत्क्षेप्तव्यं, यथैते मन्यन्ते–वयं हेलयैवोत्क्षेप्स्यामः, न तथोद्धारोऽस्य भविष्यति। परं अहमस्मि रूक्षो भिक्षुर्यावद्गतिपराक्रमज्ञः। एतद्गुणविशिष्टोऽहमेतत्पुण्डरीक- 'मुत्क्षेप्स्यामि' उत्खनिष्यामि–समुद्धरिष्यामि, 'एवमुक्त्वाऽसौ' नाभिक्रामेत्–तां पुष्करिणीं न प्रविशेत्, तत्रस्थ एव तस्यास्तीरे स्थित्वा तथाविधं शब्दं कुर्यात्तद्यथा–'ऊर्द्ध उत्पत', उत्पत खलु वाक्यालङ्कारे 'हे पद्मवरपुण्डरीक ! तस्याः पुष्करिण्या मध्यदेशात् खमुत्पत (स)मुत्पत'इत्येवं तच्छब्दश्रवणादनन्तरं तदुत्पतितमिति ॥ ५ ॥

एतद्दृष्टान्तमथ दार्ष्टान्तिके योजयति, अथ श्रीमहावीरः स्वशिष्यानाह—

किट्टिए नाए समणाउसो !, अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति। भंते त्ति समणं भगवं महावीरं

निग्गंथा[य] निग्गंथीओ [य] वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–किट्टिते नाए समणाउसो !, अट्ठं पुण से ण जाणामो । समणाउसो ! त्ति समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथे य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वदासी–हंत समणाउसो ! ते आतिक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेउयं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि से बेमि (सू० ७) ॥

व्याख्या—'कीर्तिते' कथिते मयाऽस्मिन् ज्ञाते हे श्रमणा ! आयुष्मन्तोऽर्थः पुनरस्य ज्ञातव्यो भवति भवद्भिः । एतदुक्तं भवति—नास्योदाहरणस्य परमार्थं यूयं जानीथ, इत्येवमुक्ते भगवता ते बहवो निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च तं श्रमणं भगवन्तं महावीरं ते निर्ग्रन्थादयो वन्दन्ते (कायेन), नमस्यन्ति–स्तुवन्ति । वन्दित्वा [नमस्यित्वा] चैवं वक्ष्यमाणं वदेयुः–'कीर्तितमुदाहरणं भगवता, अर्थं पुनरस्य सम्यग्न जानीम, इत्येवं पृष्टो भगवान् श्रमणो महावीरस्तान्निर्ग्रन्थादीनेवं वदेत्–[हंते]ति सम्प्रेषणे, हे श्रमणा आयुष्मन्तो ! यद्भवद्भिरहं पृष्टस्तत्सोपपत्तिकमाख्यामि–भवतां ['विभावयामि'] आविर्भावयामि– प्रकटार्थं करोमि 'कीर्त्तयामि' पर्यायकथनद्वारेण तथा 'पवेदेमि'त्ति प्रवेदयामि–प्रकर्षेण हेतुदृष्टान्तैश्चित्तसन्ततावारोपयामि । कथं प्रतिपादयामीति दर्शयति—सार्थं–पुष्करिणीदृष्टान्तं सहेतुकं प्रतिपादयिष्यामि, यथा ते पुरुषा अप्राप्तप्रार्थितार्थाः पुष्करिणीकर्दमे दुरुत्तारे निमग्ना एवं वक्ष्यमाणास्तीर्थिका अपारगाः संसारसागरस्य, तत्रैव निमज्जन्तीत्येवंरूपोऽर्थः सदृष्टान्तः प्रदर्शयिष्यते । सनिमित्तं–सकारणं दृष्टान्तार्थं भूयो भूयोऽपरैरपरैर्हेतुदृष्टान्तैरुपदर्शयामि । सोऽहं साम्प्रतमेव ब्रवीमि, शृणुत यूयमिति ।

लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! सा पुक्खरिणी बुइया। कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए बुइए। कामभोगे य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए बुइए। जणजाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते बहवे पउमवरपुंडरीया बुइता। रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपुंडरीए बुइए। अन्नउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाया बुइता। धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! [से] भिक्खू बुइए। धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे बुइए। धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे बुइए। निवाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाते बुइए। एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं बुइयं (सू० ८) ॥

व्याख्या—लोकमिति मनुष्यक्षेत्रं, [च शब्दः, समुच्चये] खल्विति वाक्यालङ्कारे, मया लोको मनुष्याऽऽधारस्तमात्मन्याहृत्य-व्यवस्थाप्य ' अपाहृत्य [वा ' आत्मना वा मयाऽऽहृत्य] न परोपदेशतः, सा पुष्करिणी पद्माधारभूतोक्ता। तथा कर्म चाष्टप्रकारं, यद्बलेन पुरुषपुण्डरीकाणि भवन्ति, तदुदकं दृष्टान्तत्वेन उपन्यस्तं। कामभोगाश्च मया कर्दमोऽभिहितः,

यथा महति पङ्के निमग्नो दुःखेनात्मानमुद्धरत्येवं विषयेष्वप्यासक्तो नात्मानमुद्धर्तुमलमित्येतत् कर्दमविषययोः साम्यमिति। ‘जनाः’ सामान्यलोकाः ‘जानपदा’ विशिष्टार्यदेशोत्पन्नाः गृह्यन्ते, तांश्च समाश्रित्य-मया दार्ष्टान्तिकत्वेनाङ्गीकृत्य तानि बहूनि पद्मवरपुण्डरीकाणि दृष्टान्तत्वेनाभिहितानि। राजानमात्मन्याहृत्य तदेकं पद्मवरपुण्डरीकं दृष्टान्तत्वेनाभिहितम्। तथाऽन्यतीर्थिकान् समाश्रित्य ते चत्वारः पुरुषजाता अभिहितास्तेषां राजपुण्डरीकोद्धरणसामर्थ्यवैकल्यात्। तथा धर्मं च खल्वात्मन्याहृत्य श्रमणायुष्मन्! स भिक्षुः रूक्षवृत्तिरभिहितः, तस्यैव चक्रवर्त्यादिराजपद्मवरपुण्डरीकस्योद्धरणसामर्थ्यसद्भावात्। धर्मतीर्थं च खल्वाश्रित्य मया तत्तीरमुक्तम्। तथा सद्धर्मदेशनां चाश्रित्य मया स भिक्षोः सम्बन्धी शब्दोऽभिहितः। तथा ‘निर्वाणं’ मोक्षपदमशेषकर्मक्षयरूपमीषत्प्राग्भाराख्यभूमागोपर्यवस्थितं क्षेत्रखण्डं चात्मन्याहृत्य स पद्मवरपुण्डरीकस्योत्पातोऽभिहितः। ‘एवं’ पूर्वोक्तप्रकारेण [ए]तल्लोकादिकं च खल्वात्मन्याहृत्य-आश्रित्य मया श्रमणायुष्मन्! ‘से’ एतत्पुष्करिण्यादिकं दृष्टान्तत्वेन किञ्चित्साधर्म्याद्देवमुक्तमिति ॥ ८ ॥ एतावता सामान्येन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोजना कृता, अथ विशेषेण प्रधानभूतराजदार्ष्टान्तिकं तदुद्धरणार्थत्वात् सर्वप्रयासस्येति दर्शयितुमाह—

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति। अणुपुव्वेणं लो[गं]गतं (?) उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे [र]हस्समंता वेगे सुवण्णा वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च

णं मणुयाणं एगे राया भवति ।

व्याख्या—' इह ' मनुष्यलोके, खलुर्वाक्यालङ्कारे, प्राच्यां प्रतीच्यामुदीच्यामपाच्यामन्यतरस्यां वा दिशि ' सन्ति ' विद्यन्ते 'एके' केचन तथाविधा मनुष्या आनुपूर्व्येण इमं लोकमाश्रित्योत्पन्ना भवन्ति। तानेव दर्शयति, तद्यथा–आर्या अनार्यास्तथा एके उच्चैर्गोत्रीया इक्ष्वाकुप्रमुखाः, [एके] नीचैर्गोत्रीया, एके +दीर्घकायाः, एके ह्रस्वकायाः, एके सुवर्णाः, एके दुर्वर्णाः कृष्णरूक्षादिवर्णाः, एके 'सुरूपाः' सुविभक्तचारुदेहाः, एके 'दुरूपाः' बीभत्सदेहाः, एतेषां मध्ये कश्चिदेवैकस्तथाविधकर्मोदयाद्राजा भवति । स कीदृशः ?

महया हिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूए निरंतररायलक्खण-विराइयंगमंगे बहुजणबहुमाणपूइते सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिते मुद्धाभिसित्ते माउपिउसुजाए दयप्पिए सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपुरोहिए सेउकरे केउकरे नरपवरे पुरिसपवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिन्नविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइन्ने बहुजणबहुधणबहुजायरूवरयए

+ " कायो ' महाकायः प्रांशुत्वं, तद्विद्यते येषां ते कायवन्तः " इति वृहद्वृत्तौ ।

आओगप्पओगसंपउत्ते विच्छडितपउरभत्तपाणे बहुदासदासीगोमाहिसगवेलगप्पभूए [पडिपुण्ण-कोसकोट्ठागाराउहागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं निहयकंटयं मलियकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं ओहयसत्तू नि]हयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगयदुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं, रायवण्णओ जहा उववाईए, जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसाहेमाणे विहरति । तस्स णं रन्नो परिसा भवति ।

एतद्व्याख्यानं औपपातिकोपाङ्गात् ज्ञातव्यं, यावच्च राजान उपशान्तडिम्बडमरं* 'रज्जं'ति राज्यं प्रसाधयन्ति । तस्य चैवंविधगुणसम्पदुपेतस्य राज्ञ एवंविधा पर्षद्भवति ।

उग्गा उग्गपुत्ता, भोगा भोगपुत्ता, इक्खागा इक्खागपुत्ता, नाया नायपुत्ता, कोरवा कोरवपुत्ता, भट्टा भट्टपुत्ता, माहणा माहणपुत्ता, लेच्छई लेच्छइपुत्ता, पसत्थारो पसत्थारपुत्ता, सेणावई सेणावईपुत्ता, तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवति कामं, तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए ।

---

* "तत्र 'डिम्बः' परानीकभ्रगालिको 'डमरं' स्वराष्ट्रक्षोभः, पर्यायौ वैतावत्यादरख्यापनार्थमुपात्तौ ।" इति वृ० ।

तत्थ अन्नतरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो भवंति, वयं इमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति। तं जहा—

व्याख्या—उग्रा उग्रपुत्राः, एवं भोगपुत्रादयोऽपि द्रष्टव्याः, शेषं सुगमं, यावत्सेनापतिपुत्रा इति +। तेषां मध्ये कश्चिदेकः 'श्रद्धावान्' धर्मलिप्सुर्भवति। काममित्यवधृतार्थे। अवधृतमेतद्यथाऽयं धर्मश्रद्धालुः, अवधार्य च तं धर्मलिप्सुतया श्रमणा ब्राह्मणा वा 'सम्प्रधारितवन्तः' समालोचितवन्तो धर्मप्रतिबोधनिमित्तं तदन्तिकगमनाय, तत्र चान्यतरेण धर्मेण स्वसमयप्रसिद्धेन प्रज्ञापयितारो वयमित्येवं सम्प्रधार्य राजान्तिकं गत्वा एवमूचुस्तद्यथा—एतद्यथाऽहं कथयाम्येवमिति वक्ष्यमाणनीत्या 'भवन्तो' यूयं जानीत भयात्रातारो वा 'यथा' येन प्रकारेण मयैष धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवतीत्येवं तीर्थिकः स्वदर्शनानुरञ्जितोऽन्यस्यापि स्वाभिप्रायेण राजादेरुपदेशं ददाति। तत्राद्यपुरुषजातस्तज्जीवतच्छरीरवादी राजानमुद्दिश्यैवं धर्मदेशनां चक्रे, तद्यथा—

उड्ढं पादतला अहे केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयपज्जवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवति, सरीरे धरमाणे धरति विणट्ठम्मि य णो धरति। एयंतं

+ नवरं—'लेच्छइ'त्ति लिप्सुकः, स च वणिगादिस्तथा 'प्रशास्तारो' बुद्ध्युपजीविनो मन्त्रिप्रभृतयः। इति बृहद्वृत्तौ।

जीवितं भवति। आदहणाए परेहिं निज्जति, अगणिज्झामिए सरीरे कवोतवण्णाणि अट्ठीणि भवंति।

व्याख्या—'ऊर्ध्वं' उपरि पादतलादधश्च केशाग्रमस्तकात्तिर्यक्त्वक्पर्यन्तो जीव, एतावता यदेवैतच्छरीरं स एव जीवो, नैतस्माच्छरीराद्व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति यदेतच्छरीरं स एवात्मा। [अयं काय एव] तस्यात्मनः पर्ययः 'कृत्स्नः' सम्पूर्णः 'पर्यायो'ऽवस्थाविशेषः, यावत्कालमिदं शरीरं जीवति तावत्कालं जीवोऽपि जीवति, शरीरे मृते जीवोऽपि म्रियते। यावदिदं शरीरं पञ्चभूतात्मकं अव्ययं * धरति तावदेव जीवोऽपीति, तस्मिंश्च विनष्टे जीवस्यापि विनाशः। [तदेवं] यावदेतच्छरीरं वातपित्तश्लेष्माधारं पूर्वस्वभावादप्रच्युतं तावदेव जीवस्य तज्जीवितं भवति, तस्मिंश्च विनष्टे तदात्मा—जीवोऽपि विनष्ट इति कृत्वा आदहनाय श्मशानादौ नीयते, तस्मिंश्च शरीरे अग्निना ध्यामि[ध्मापि]ते कपोतवर्णान्यस्थीनि केवलमुपलभ्यन्ते, परमस्थिव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न दृश्यते, येन तदस्तित्वप्रतीतिरुपजायते, तथा—

आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति, एवं असंते असंविज्जमाणे, जेसिं तं असंते असंविज्जमाणे तेसिं तं सुअक्खायं भवति—अन्नो भवति जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते एवं नो विप्पडिवेदेंति—

व्याख्या—तद्बान्धवा अधन्यतोऽपि चत्वारः—'आसन्दी' मञ्चकः, स पञ्चमो येषां ते आसन्दीपञ्चमाः पुरुषास्तं कायं अग्निना ध्यामयित्वा पुनः स्वं ग्रामं प्रत्यागच्छन्ति। यदि पुनस्तत्रात्मापि शरीराद्भिन्नः स्यात्ततः शरीरान्निर्गच्छन्

* अभङ्ग—मखण्डं ।

दृश्येत, न च दृश्यते, तस्मात्तज्जीवतच्छरीरमिति स्थितम्। तदेवं येषां मते–असौ जीवोऽसत्–अविद्यमानः, तत्र तिष्ठन् गच्छन् नोपलभ्यते, येषामयं पक्षस्तेषां तत्स्वाख्यातं भवति, येषां पुनरन्यो जीवोऽन्यच्छरीरं तद्वृथा, ते तु अन्धरूढया प्रवर्त्तमाना एवमिति वक्ष्यमाणं नैव विप्रतिवेदयन्ति–न जानन्ति, तदेवाह–यद्ययमात्मा शरीराद्भिन्नस्तर्हि किं स्वरूपः ? कियत्प्रमाणो वा ? तद्यथा—

अयमाउसो ! आता दीहेति वा हस्सेति वा परिमंडलेति वा वट्टेति वा तंसेति वा चउरंसेति वा आयतेति वा छलंसिएति वा अट्ठंसेति वा। किण्हेति वा नीलेति वा लोहिएति वा हालिद्देति वा सुक्किलेति वा। सुब्भिगंधेइ वा दुब्भिगंधेइ वा। तित्तेइ वा कडुएति वा कसाइएति वा अंबिलेति वा महुरेति वा लवणेति वा। कक्खडेति वा मउएति वा गुरुएति वा लहुएति वा सीएति वा उसिणेति वा निद्धेति वा लुक्खेति वा ?। एवं असए असंविज्जमाणे जेसिं तं सुअक्खायं भवति–अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा ते नो एवं उवलब्भंति।

व्याख्या—(आयुष्मन् !) यद्ययमात्मा शरीराद्भिन्नस्तर्हि किं दीर्घो वा ह्रस्वो वाऽस्ति ? तथा अयमात्मा कियत्प्रमाणो दीर्घो ह्रस्वो वाऽङ्गुष्ठश्यामाकतन्दुलपरिमाणो वा, ? किं परिमण्डलः ? किं वा वृत्तः ? त्र्यस्रः ? चतुरस्रः ? षडंशो वा (अष्टांशो

वा ?)। तथा वर्णतः किं किण्हेति वा नीलेति वा लोहिएति वा हालिद्देति वा सुकिलेति वा। तथा गन्धतः किं सुब्भिगंधेइ वा दुब्भिगंधेइ वा। तथा रसतः किं तित्तेइ वा कडुएति वा कसाएएति वा अंबिलेइ वा महुरेइ वा लवणेइ वा। (तथा स्पर्शतः) किं कक्खडेति वा मउएति वा गरुएति वा लहुएति वा सीएति वा उसिणेति वा निद्धेइ वा लुक्खेइ वा। एवं असंविज्जमाणे जेसिं तं सुअक्खायं भवति–अन्नो जीवो अन्नं शरीरं, तम्हा ते नो एवं उवलभंति। इत्यादि–सर्वं सुगमम्। अतो येषां मते केनापि प्रकारेणासंवेद्यमानः–शरीरादपृथग्भूत आत्मा तेषां स्वाख्यातं भवति, यथाऽन्यो जीव अन्यच्छरीरमित्येवं ये प्रतिपादयन्ति ते नात्मानमुपलभन्ते–ते नात्मस्वरूपवेत्तारः, ये तु शरीरात्पृथग्भूतो जीवाख्यः पदार्थ इति स्वग्रन्थेषु निक्षिप्तवन्तस्तद्यथा, कथं ? यथा—

से जहा नामए केइ पुरिसे कोसीओ असिं अभिनिवट्टित्ता णं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! असी अयं कोसी, एवामेव णत्थि केइ पुरिसे अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेत्तारो-अयमाउसो ! आया इमं सरीरं। से जहा नामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसियं अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेति–अयमाउसो ! मुंजा इयं इसिया, एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया इदं सरीरं। से जहा नाम केइ पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! मंसे अयं अट्ठी,

एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केइ पुरिसे करतलाओ आमलकं अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! करतले अयं आमलए, एवामेव णत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केइ पुरिसे दहीओ नवनीयं अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! नवनीयं अयं तु दही, एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केइ पुरिसे तिलेहिंतो तेल्लं अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! तिल्ले अयं पिन्नाए, एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केइ पुरिसे इक्खूतो खोतरसं अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! खोतरसे अयं छोए, एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । से जहा नामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिवट्टित्ताणं उवदंसेज्जा–अयमाउसो ! अरणी अयमग्गी, एवामेव नत्थि केइ पुरिसे उवदंसेत्तारो–अयमाउसो ! आया इदं सरीरं । एवं असंते असंविज्जमाणे जेसिं तं

सुअक्खायं हवइ, तं जहा—अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, तम्हा तं मिच्छा। से हंता, तं हणह खणह छणह डहह पयह लुंपह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विपरामुसह। एतावता × णत्थि जीवे, णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—

व्याख्या—यथा नाम कश्चित्पुरुषः 'कोशतः' परिवारात् + दसिं-खड्गमभिनिर्वृत्त्य-समाकृष्यान्येषामुपदर्शयेत्, यथाऽयमायुष्मन्! 'असिः' खड्गः अयं च 'कोशः' परिवारः, एवमेव जीवशरीरयोरपि नास्त्युपदर्शयिता, तद्यथा-अयं जीव इदं च शरीरमिति। न चास्त्येवमुपदर्शयिता कश्चिदतो न शरीराद्भिन्नो जीव इति। अस्मिँश्चार्थे * बहवो दृष्टान्ताः सन्तीत्यतो दर्शयितुमाह, तद्यथा-कश्चित्पुरुषो 'मुञ्जा'त्तृणविशेषात् 'इसियं' ति तद्गर्भभूतां शिलिकां पृथक्कृत्य दर्शयेत्। तथा मांसादस्थि, करतलादामलकं, तथा दध्नो नवनीतं, तिलेभ्यस्तैलं, तथेक्षो रसं, तथाऽरणितोऽग्निं 'अभिनिर्वृत्त्य' पृथक्कृत्य दर्शयेत्, एवमेव शरीरादपि जीवमिति। न चास्त्येवमुपदर्शयिता, तस्मात्तन्मिथ्या यत्कैश्चिदुच्यते-यथाऽस्त्यात्मा परलोकानुयायीति। एवं चार्वाकस्तज्जीवतच्छरीरवादी शरीरादपृथग्भूतमेवात्मानं मन्यमानः आत्माऽभावप्रतिपादको नास्तिकः प्राणातिपातदोषमविन्दन् प्राणिनामेकेन्द्रियादीनां 'हन्ता' व्यापादको भवति। प्राणातिपाते दोषाभावमभ्युपगम्यान्येषा-

---

× 'णत्थि'त्ति शब्दो नास्त्यत्र बृहद्वृत्त्यन्वितासु सर्वास्वपि मुद्रितप्रतिषु, परमस्त्यखिलास्वपि दीपिकाप्रतिषु मूलेऽतोऽत्र रक्षितः।

+ मलाकारात् 'म्यान' इति लोके। * 'अस्मिन्' जीवनास्तित्वप्ररूपणार्थे।

मपि प्राण्युपघातकारिणामुपदेशं ददाति, तद्यथा-प्राणिनः खड्गादिना घातयत पृथिव्यादिकं खनतेत्यादि सुगमम्। पाश्चात्येवानेव-शरीरमात्र एव जीवस्ततः परलोकिनोऽभावान्नास्ति परलोकस्तदभावाच्च यथेष्टमासत खादत पिबत सुखमनुभवत दहत पचत, अत्र दोषो नास्ति, जीवस्याभावाच्च परलोको नापि पुण्यं न पापं, इत्येवं लोकायतिकास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो नैवैतद्वक्ष्यमाणं विप्रतिवेदयन्ति-नाभ्युपगच्छन्ति। तद्यथा—

किरियाइ वा अकिरियाइ वा, सुकडेइ वा दुक्कडेइ वा, कल्लाणएति वा पावएति वा, साहुति वा असाहूति वा, सिद्धीति वा असिद्धीति वा, निरएति वा अनिरएति वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए।

व्याख्या—ये एवं मन्यन्ते-नास्ति जीवो नास्ति परलोकस्ते नैवं विप्रतिवेदयन्ति-नाभ्युपगच्छन्ति। किं नाभ्युपगच्छन्ति? 'क्रियां' सदनुष्ठानात्मिकां 'अक्रियां' असदनुष्ठानरूपां, एवं नैव ते विप्रतिवेदयन्ति। कुतः? यद्यात्मा क्रियावांस्तर्हि कर्मबन्धः, क्रियया शुभं कर्म बध्यते अक्रियया त्वशुभं, ततश्च कोऽपि भोक्ता स्यात्। स तु परलोकगामी जीव एव, स तु मूलतोऽपि निराकृत एव, ततश्च कः कर्म बध्नाति? कश्च कर्मफलमनुभवति? जीवाऽभावात्, अतः सत्क्रियादिचिन्ता दूरोत्सादितैव, अतः क्रियामक्रियां च न मन्यन्ते। तथा सुकृतं वा दुष्कृतं वा, कल्याणमिति पापमिति वा, साधुकृतमसाधुकृतमित्यादिका चिन्तैव नास्ति। तथाहि-'सुकृतानां' कल्याणविपाकिनां साधुतयाऽवस्थानं 'दुष्कृतानां' पापविपाकिनां

असाधुत्वेनावस्थानं, एतदुभयमपि सत्यात्मनि तत्फलभुजि सम्भवति, तदभावाच्च कुतोऽनर्थको हिताहितप्राप्तिपरिहारौ स्याताम्? । तथा अशेषकर्मक्षयरूपां सिद्धिमपि असिद्धिमपि नाऽभ्युपगच्छन्ति, आत्माभावात् । तथा दुष्कृतेन-पापानुबन्धिना असाध्वनुष्ठानेन नरकोऽनरको वा तिर्यग्नरामरगतिलक्षणः स्यादित्येवमादिका चिन्तैव न भवेत्, तदाधारस्यात्मसद्भावस्याऽनभ्युपगमादिति भावः । एवं [ते]नास्तिका आत्माभावं प्रतिपाद्य विरूपरूपैः पशुघातमांसभक्षणसुरापाननिर्लाञ्छनादिभिः कर्मसमारम्भैः सावद्यानुष्ठानैः कृषीवलानुष्ठानादिभिर्विरूपरूपान् कामभोगान् समाददति तदुपभोगार्थमिति ।

साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतमुपसंहरन्नाह—

एवं एगे पागब्भिता णिक्खम्म मामगं धम्मं पन्नविंति, तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साहु सुअक्खाए, समणेत्ति वा माहणेत्ति वा कामं खलु आउसो! तुमं पूययामि, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निकाइंसु ।

व्याख्या—['एवं' उक्त प्रकारेण]'एके' केचन नास्तिकाः धृष्टाः सन्त एवं वदन्ति—अयमात्मा शरीरादपृथग्भूतोऽस्ति, एतावता शरीरे मृते जीवोऽपि म्रियते, न परं शरीरात्पृथग्भावं भजते । स एव जीवस्तदेव शरीरं, न शरीरात्पृथगात्मा, इत्येवं

धृष्टाः–सन्तः प्रवर्त्तन्ते । स्वकीयदर्शनानुसारेण प्रव्रज्यां प्रतिपद्य + मदीयोऽयमेव धर्मः सत्यो, नाऽपर इति [परेभ्यः] प्रज्ञापयन्ति । ततश्चान्ये श्रोतारः नास्तिकोक्तं धर्मं विषयिणामनुकूलं श्रद्दधानाः प्रतीयन्तो मनसि रोचयन्तस्तथा अवितथभावेन गृह्णन्तस्तत्र रुचिं कुर्वन्तस्तथा 'साधु' शोभनमेतद्यथा स्वाख्यातो यथाऽवस्थितो भवता धर्मोऽन्यथा हिंसादिष्ववर्त्तमानाः परलोकभयात्सुखसाधनेषु मद्यमांसादिषु प्रवृत्तिं अकुर्वाणा मानुषजन्मफलवञ्चिता भवे[युः,] ततः शोभनमकारि भवता हे श्रमण! ब्राह्मण! यदयं धर्मोऽस्माकमावेदितः, काममिष्टमेतदस्माकं धर्मकथनं। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे। हे आयुष्मंस्त्वया वयमभ्युद्धृताः, अन्यथा कापटिकैस्तीर्थिकैर्वञ्चिता अभूमः, तस्मादुपकारिणं 'त्वां' भवन्तं पूजयामि, अहमपि कञ्चिदायुष्मतोभवतः प्रत्युपकारं करोमि, 'असणेण वा पाणेण वा' इत्यादि सूत्रं सर्वं सुगमम्। तत्रैके केचन पूजया पूजायां वा 'समाउट्टिंसु'त्ति समावृत्ता–प्रह्वीभूतास्ते राजानः पूजां प्रति प्रवृत्ताः 'पूयाए निकाइंसु' पूजायां 'निकाचितवन्तः' नियमितवन्तः, भवद्भिस्तज्जीवतच्छरीरमित्यभ्युपगन्तव्यं, अन्यो जीवोऽन्यच्च शरीरमित्येतच्च परित्याज्यं, अनुष्ठानमप्येतदनुरूपमेव विधेयमित्येवं निकाचितवन्तः, के ते? दर्शनिनः–स्वदर्शनप्रतिपन्नान् राजादीन्।

पुव्वामेव तेसिं णायं भवइ–समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभो-

---

+ "यद्यपि नास्तिकानां नास्ति प्रव्रज्या तथापि बौद्धादिमते प्रव्रज्य पश्चान्नास्तिकीभूते सम्भवति प्रव्रज्या, अथवा नीलपट्टादिस्वीकृतः कश्चिदस्त्येव प्रव्रज्याविशेषः" इति हर्ष०।

[इणो]मी भिक्खुणो पावं कम्मं नो करिस्सामो, समुट्ठाए ते अप्पणो अप्पडिविरया भवंति। सयमाइयंति अन्नेवि आदियावेंति अन्नंपि आययंतं समणुजाणंति, एवामेव ते इत्थिकामभोगे-(सु)हिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसवसट्टा, ते णो अप्पाणं समुच्छेदिंति, णो परं समुच्छेदिंति, णो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छेदिंति। पहीणा पुव्वसंजोगं आरियं मग्गं असंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसन्ना, इति पढमे पुरिसजाते तज्जीवतस्सरीरएत्ति आहिए (सू० १) ॥

व्याख्या—तथा तैर्दर्शनिभिः प्रव्रज्याग्रहणकाल एवैतत्परिज्ञातं भवति, यथा—वयं परित्यक्तपुत्रकलत्राः 'श्रमणा' यतयो भविष्याम 'अनगारा' गृहरहितास्तथा निष्काञ्चनास्तथा [अपुत्रा] 'अपशवो' गोमहिष्यादिरहिताः परदत्तभोजिनः, स्वतः पचनपाचनादिक्रियारहितत्वात्। तथा 'भिक्षवो' भिक्षोपजीविनः, कियद्वक्ष्यते ? अन्यदपि यत्किंचित्'पापं' सावद्यं कर्म्मा-नुष्ठानं तत्सर्वं न करिष्या(म इत्येवं)मीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय पूर्वं, पश्चात्ते-लोकायतिकभावमुपागताः 'आत्मनः' स्वतः पापकर्मभ्योऽप्रतिविरता भवन्ति, विरत्यभावे च यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयति—पूर्वं सावद्यारम्भान्निवृत्तिं विधाय नीलपटादिकं वा लिङ्गमास्थाय स्वयं सावद्यमनुष्ठानं 'आददते' स्वीकुर्वन्त्यन्यानप्यादापयन्ति—ग्राहयन्ति अन्यमप्याद-

दारं–परिग्रहं स्वीकुर्वन्तं समनुजानन्ति, एवमेव पूर्वोक्तप्रकारेण स्त्रीसम्बन्धिषु कामभोगेषु मूर्च्छिताः ‘ गृद्धाः ’ काङ्क्षावन्तो ‘ ग्रथिताः ’ अवबद्धाः ‘ अध्युपपन्ना ’ लुब्धाः रागद्वेषवशगाः कामभोगान्धा वा, ते एवं कामभोगेष्ववबद्धाः सन्तो नात्मानं संसारात्कर्मपाशाद्वा समुच्छेदयन्ति, नापि परं सदुपदेशदानतः कर्मपाशावपाशितं समुच्छेदयन्ति–कर्मबन्धात्रोटयन्ति, नाप्यन्यान् प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समुच्छेदयन्ति । ते चैवंविधास्तज्जीवतच्छरीरवादिनो लोकायतिकाः ‘ पूर्वसंयोगा’त्पुत्रदारादिकात् ‘ प्रहीणाः ’ प्रभ्रष्टाः, आर्यमार्गमसम्प्राप्ताः, ऐहिकाऽऽमुष्मिकलोकद्वयात् प्रभ्रष्टाः, अन्तराल एव भोगेषु विषण्णास्तिष्ठन्ति, न विवक्षितं पुण्डरीकोत्क्षेपणादिकं कार्यं प्रसाधयन्ति । इत्ययं च प्रथमपुरुषस्तज्जीवतच्छरीरवादी परिसमाप्त इति । इति प्रथमः पुरुषः । अथ द्वितीयपुरुषजातमधिकृत्याऽऽह—

अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंच महब्भूतिएत्ति आहिज्जति, इह खलु पाईणं वा दाहिणं वा पडीणं वा उत्तरं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तंजहा–आरिया वेगे अणारिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे, तेसिं च णं महं एगे राया भवति [महया०] एवं चेव निरवसेसं जाव सेणावतिपुत्ता, तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति । कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए । तत्थऽन्नयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयमिमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो ! जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति ।

व्याख्या—इह खलु द्वितीयः पुरुषजातः पञ्चभिः [भूतैः]पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशैश्चरति पञ्चभूतिकः, स च सांख्यमतावलम्बी। स प्रथमपुरुषवद्यावद्राजसमामागत्य स्वीयं धर्मं यथा प्रकाशयति तथा[दर्शयितुमा]ह—

इह खलु पंच महब्भूता, जेहिं नो किज्जति किरियाति वा अकिरियाति वा, सुकडेति वा दुक्कडेति वा, कल्लाणएति वा पावएति वा, साहूति वा असाहूति वा, सिद्धित्ति वा असिद्धित्ति वा, निरएति वा अनिरएति वा, इति [अवि] अंतसो तणमातमवि। तं पिहुद्देसेणं पुढो भूतसमवातं जाणेज्जा, तंजहा—

व्याख्या—'इह' द्वितीयपुरुषवक्तव्याधिकारे, खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे, पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि विद्यन्ते। तेषां च सर्वव्यापितया अभ्युपगमान्महत्त्वं, पञ्चैव, परस्य षष्ठस्य क्रियाकर्तृत्वेनानभ्युपगमात्। पञ्च भूतानि कार्यकारीणि, न कोऽपि षष्ठः पदार्थोऽस्ति। साङ्ख्यानां हि मते पंच महाभूतान्येव सर्वक्रियाकारीणि, न कोऽपि षष्ठः आत्माख्यः पदार्थः, स तु किमपि न करोति, यतस्तन्मतं—"अमूर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः। अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म, आत्मा कापिलदर्शने ॥ १५ ॥" साङ्ख्या एवं वदन्ति-पञ्चभूतैरभ्युपगम्यमानैर्नो-ऽस्माकं 'क्रिया' परिस्पन्दात्मिका चेष्टारूपा [अक्रिया वा-निर्व्यापारतया स्थितिरूपा] क्रियते, तथाहि-सांख्यानां दर्शनं सत्त्वरजस्तमोरूपा प्रकृतिः सर्वा अर्थक्रियाः करोति, पुरुषः केवलमुपभुङ्क्ते, तस्याश्च प्रकृतेर्भूतात्मिकायाः सत्त्वरजस्तमसां चयापचयाभ्यां क्रियाऽक्रिये स्याता-मिति कृत्वा भूतेभ्य एव क्रियादीनि प्रवर्त्तन्ते, भूतव्यतिरेकेणापरस्याभावादिति भावः। तथा सुकृतं सत्त्वगुणाधिक्येन भवति

दुष्कृतं रजस्तमसोरुत्कटतया प्रवर्तते, एवं कल्याणमिति वा पापकमिति वा, साध्विति वा असाध्विति वा इत्येतत्सत्त्वादीनां गुणानामुत्कर्षानुत्कर्षतया यथासम्भव मायोजनीयं। तथा सिद्धिरसिद्धिर्वा, तथा 'नरकः' पापकर्मणां यातनास्थानं, अनरकस्तिर्यङ्मनुष्यामराः, एतत्सर्वं सत्त्वादिगुणाधिष्ठिता भूतात्मिका प्रकृतिर्विधत्ते, लोकायतिकाभिप्रायेणापीहैव तथाविधसुखदुःखावस्थाने स्वर्गनरकाविति इत्येवमन्ततस्तृणमात्रमपि यत्कार्यं तद्भूतैरेव प्रधानरूपापन्नैः क्रियते। तदेवं साँख्याभिप्रायेणात्मनस्तृणकुब्जीकरणेऽप्य सामर्थ्यात्, लोकायतिकाभिप्रायेण त्वात्मन एवाभावात्, भूतान्येव सर्वकार्यकर्तृणीत्येवमभ्युपगमः। तानि च समुदायरूपापन्नानि नानास्वभावं कार्यं कुर्वन्ति। तं च तेषां भूतानां समवायं पृथग्भूतपदोद्देशेन जानीयात्। तथाहि—

पुढवी एगे महब्भूते आऊ दुच्चे महब्भूते तेऊ तच्चे महब्भूते वाऊ चउत्थे महब्भूते आगासे पंचमे महब्भूते, इच्चेते पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया अकडा णो कित्तिमा नो कडगा अणादिया अणिहणा अवंझा अपुरोहिता सतंता सासता आयछट्ठा। पुण एगे एवमाहु—

व्याख्या—पृथिव्येका काठिन्यलक्षणा महाभूतं, तथा 'आपो' द्रवलक्षणा महाभूतं, तथा 'तेज' उष्णोद्योत लक्षणं महाभूतं, वायु(र्)तिकम्पनलक्षणस्तथाऽवगाहदानलक्षणं सर्वद्रव्याधारभूतमाकाशमित्येवं पृथग्भूतो यः पदोद्देशस्तेन कायाऽऽकारतया यस्तेषां समवायः, स एकत्वेऽपि लक्ष्यते। न न्यूनानि नाप्यधिकानि विश्वव्यापितया महान्ति, त्रिकालभवनाद्भूतानि, एतान्येव क्रमेण व्यवस्थितानि, अपरेण कालेश्वरादिना केनचिदपि न निर्मितानि—अनिष्पादितानि,

तथा परेण अनिर्म्मापयितव्यानि, तथाऽकृतानि–न केनचित्तानि क्रियन्ते, अत्रेन्द्रधनुर्वद्विश्रसापरिणामेन निष्पन्नत्वात्, तथा न घटवत्कृत्रिमाणि, कर्तृकरणव्यापारसाध्यानि न भवन्तीत्यर्थः, तथा परव्यापाराभावतया 'नो' नैव कृतकानि, न अपेक्षितपरव्यापारस्वभावानि, विश्रसापरिणामेन निष्पन्नत्वात्कृतकव्यपदेशभाञ्जि न भवन्ति। तथा अनाद्यनिधनानि, अवन्ध्यानि–अवश्यकार्यकारीणि, तथा न विद्यते 'पुरोहितः' कार्यं प्रति प्रवर्तयिता येषां तान्यपुरोहितानि, तथा 'स्वतन्त्राणि' स्वाधीनानि, तथा 'शाश्वतानि' नित्यानि, तदेवम्भूतानि पञ्च महाभूतान्यात्मषष्ठानि ज्ञातव्यानि। एके पुनरेवमाहुः—

सतो णत्थि विणासो असतो णत्थि संभवो। एतावताव जीवकाए, एतावताव अत्थिकाए, एतावताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए। अवि अंतसो तणमायमवि।

व्याख्या—तथा साँख्याभिप्रायेण 'सतो' विद्यमानस्य प्रधानादेर्नास्ति विनाशः[तथा] 'असतः' शशविषाणादेर्नापि 'सम्भवः' समुत्पत्तिरस्ति, अतः साँख्या आत्मनः कार्यकारित्वं न मन्यन्ते। यद्यात्मा क्रियायाः कर्ता स्यात्ततोऽसदुत्पादयति, अत आत्मा अकर्ता निर्गुण इति। ततः साँख्या एवं वदन्ति एतावानेव जीवकायो, यदुत–पञ्च महाभूतानि, तथा एतावानेव–भूतास्तित्वमात्र एवास्तिकायो, नापरः कश्चित्तीर्थिकाभिप्रेतः पदार्थोऽस्ति। एतावानेव सर्वलोकः, पञ्च महाभूतानि लोकनिष्पत्तौ 'मुख्यानि' प्रधानकारणान्येतान्येव जानीहि। भूतान्येवान्तशस्तृणमात्रमपि कार्यं कुर्वन्ति, पञ्च महाभूतेभ्यः परस्य कस्याप्यभावादिति। अथ स चैवंवाद्येकस्यात्मनोऽकिंचित्करत्वादन्यत्र चात्मनोऽसत्त्वादसदनुष्ठानैरपि नात्मा पापकर्म-

भिर्बध्यत इति दर्शयितुमाह—

से किणं किणावेमाणे, हणं घायमाणे, पयं पयावेमाणे, अवि अंतसो पुरिसमवि किणित्ता घा-[य]इत्ता इत्थंपि जाणाहि-णत्थित्थ दोसो, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तंजहा—किरियाति वा जावऽणिरयेति वा । एवमेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोय-[यणाए]णे(?), एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा जाव इति। ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा य कामभोगेसु विसन्ना, दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूतिएत्ति आहिते(सू०१०)॥

व्याख्या—'से'त्ति यः कश्चित्पुरुषः क्रयार्थी 'क्रीणन्' किञ्चित् [वस्तु] क्रयेण गृह्णंस्तथा परं क्रापयंस्तथा प्राणिनो 'घ्नन्' हिंसंस्तथाऽपरैर्घातयन्—व्यापादयन्, तथा पचन् पाचयन्, क्रीणतः क्रापयतो, घ्नतो घातयतस्तथा पचतः पाचयतश्चापरांस्तथाऽप्यन्तशः पुरुषमपि पञ्चेन्द्रियं विक्रीय घातयित्वा अपि पञ्चेन्द्रियघाते नास्ति दोषोऽत्रैवं 'जानीहि' अवगच्छ । किं पुनरेकेन्द्रियवनस्पतिघात इत्यपि शब्दार्थः, ततश्चैवंवादिनः साँख्या बार्हस्पत्या वा 'नो' नैवैतद्वक्ष्यमाणं 'विप्रतिवेदयन्ति' जानन्ति, तद्यथा—क्रिया सावद्यानुष्ठानुरूपा, एवमक्रिया वा स्थानादिलक्षणा यावदेवमेव विरूपरूपैः—उच्चा-वचैर्नानाप्रकारैर्जलस्नानावगाहनादिकैस्तथा प्राण्युपमर्दकारिभिः कर्मसमारम्भैर्विरूपरूपान्—नानाप्रकारान् सुरापानमांसभक्षणा-गम्यगमनादिकान् कामभोगान् समारभन्ते स्वतः परांश्च प्रेरयन्ति—नास्त्यत्र दोष इत्येवं प्रतार्यासत्कार्यकरणाय प्रेरयन्ति,

एवं तेऽनार्या अनार्यकर्मकारित्वाद्विरुद्धं मार्गं विप्रतिपन्नाः 'तं सद्दहमाणा' तमात्मीयमेव क्रमतं पञ्च महाभूतात्मकं श्रद्दधानास्तमेव च सत्यमित्येवं 'प्रतीयन्तः' प्रतिपद्यमानास्तमेव स्वपक्षं रोचयन्तस्तद्धर्मस्याऽऽख्यातारं प्रशंसयन्तः 'स्वाख्यातो धर्मो भवता, अस्माकमयं धर्मोऽत्यन्तमभिप्रेतः, सावद्यानुष्ठानेनाप्यधर्मो न भवतीत्यध्यवसायिनः स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः, इत्येवं पूर्ववज्ज्ञेयं, यावदन्तरे कामभोगेषु विषण्णाः ऐहिकामुष्मिकोभयकार्यभ्रष्टाः नात्म[नः]त्राणाय नापि परेषामिति। एवं द्वितीयः पुरुषजातः पञ्च महाभूताभ्युपगमिको व्याख्यात इति, साम्प्रतं तृतीयपुरुषं ईश्वरकारणिकमधिकृत्याऽऽह—

अहावरे तच्चे पुरिसजाए ईसरकारणिएत्ति आहिज्जति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तंजहा—आरिया वेगे, जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवति जाव सेणावतिपुत्ता, एतेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवति। कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवति।

व्याख्या—तदेवमीश्वरकारणिक आत्माद्वैतवादी वा तृतीयः पुरुषजात आख्यायते। इह खलु पुरुषप्रस्तावे, खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे, प्राच्यादिषु दिक्ष्वन्यतरस्यां दिशि व्यवस्थितः कश्चिदेवं ब्रूयात्, तद्यथा—राजानमुद्दिश्य तावद्यावत्स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो धर्म्मो भवति इत्यादि सर्वं पूर्ववदवगन्तव्यं। अथ च ईश्वरप्रणीतं जगदिदं मन्यते स कस्यापि राज्ञः समीपमागत्य आत्माभिप्रेतं धर्मं प्ररूपयति—

इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरा पुरिसप्पणीया पुरिससंभूया पुरिसपज्जोतिता पुरिसअभिसमन्नागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

व्याख्या—' इह ' संसारे, खल्विति वाक्यालङ्कारे, धर्माः—सचेतनाचेतनरूपाः पदार्थाः पुरुषादिकाः, पुरुष—ईश्वर आत्मा वा कारणमादिर्येषां ते पुरुषादिका ईश्वरकारणिका आत्मकारणिका वा, तथा पुरुषोत्तराः, तथा पुरुषेण प्रणीताः, तथा पुरुषसम्भूताः ' पुरुष(प्र)द्योतिताः ' पुरुषप्रकाशिताः, प्रदीपमणिसूर्यादिभिर्यथा घटपटादयः पदार्थाः प्रकाश्यन्ते तथा सर्वेऽपि पदार्थाः पुरुषेण—ईश्वरेण प्रकाशिताः, ते च धर्मा जीवानां जन्मजरामरणव्याधिरोगशोकसुखदुःखजीवनादिकाः अजीवधर्मास्तु मूर्त्तिमतां द्रव्याणां वर्णगन्धरसस्पर्शाः, अमूर्त्तिमतां च धर्माधर्माकाशानां गत्यादिका धर्माः, सर्वेऽपीश्वरकृताः । सर्वेऽपि पुरुषमेवाभिव्याप्य तिष्ठन्ति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—

से जहानामए गंडे सिया सरीरे जाते सरीरे संवुड्ढे सरीरे अभिसमन्नागते सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा पुरिसादिया, जाव [पुरिसमेव] अभिभूय चिट्ठंति ।

व्याख्या—' से ' ति तच्छब्दार्थे । ' नाम ' इति सम्भावनायां । यथा नाम गण्डं ' स्या 'द्भवेत् । गण्डं रोगविशेषः । सम्भाव्यते प्राणिनां गण्डादिसमुद्भवः । तच्च शरीरे जातं, शरीरे वृद्धिमुपगतं, शरीरे अभिसमन्वागतं—शरीरं व्याप्य व्यवस्थितं, न तदवयवोऽपि शरीरात्पृथग्भूत इति । शरीरमभि[भूय—] व्याप्य (?) पीडयित्वा तिष्ठति, न शरीराद्बहिर्भवति,

यथा तरिटकं शरीरैकदेशभूतं न युक्तिशतेनापि शरीरात्पृथग्दर्शयितुं शक्यते, एवमेव ये धर्माश्चेतनाचेतनरूपास्ते सर्वेऽपीश्वरकर्तृकाः, न ते ईश्वरात्पृथक्कर्तुं पार्यन्ते। पुनर्दृष्टान्तान्तरमाह—

से जहानामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे (अभि×)संवुड्ढा सरीरे अभिसमन्नागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा[वि] पुरिसाइया जाव पुरिसमेवाभिभूय चिट्ठंति।

व्याख्या—तद्यथा नाम 'अरति'श्चित्तोद्वेगलक्षणा'स्याद्' भवेत्, सा च शरीरे जातेत्यादि गण्डवन्नेया, दार्ष्टान्तिकेऽप्येवमेव सर्वे धर्माः पुरुषप्रभवा इत्यादि पूर्ववन्नेयम्। पुनर्दृष्टान्तमाह—

से जहानामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमन्नागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा[वि] पुरिसाइया जाव [पुरिसमेव] अभिभूय चिट्ठंति।

व्याख्या—यथा 'वल्मीकं' पृथ्वीविकाररूपं स्यात्तच्च पृथिव्यां जातं पृथिवीसम्बद्धम् पृथिव्यभिसमन्वागतं, पृथिवीमेवाऽभिसम्भूय तिष्ठति, एवमेव यदेतच्चेतनाचेतनरूपं तत्सर्वमीश्वरकारणिकमात्मविवर्त्तरूपं वा, नात्मनः पृथग्भवितुमर्हति। पृथिव्या वल्मीकवत्। तथा—

× बृहद्वृत्त्यादर्शेषु नास्त्ययं शब्दः।

से जहानामए रुक्खे सिया पुढविजाए जाव पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमन्नागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा वि [पुरिसादिया]जाव[पुरिसमेव]अभिभूय चिट्ठंति । से जहानामए पुक्खरिणी सिया* पुढविजाता जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति, से जहानामए उदगपुक्खले सिया उदगजाए[जाव] उदगमेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा[वि] पुरिसादिया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति। से जहानामए उदगबुब्बुए सिया[उदगजाए जाव]उदगमेव(जाव×) अभिभूय चिट्ठइ, एवामेव धम्मा वि पुरिसा[दिया] जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

व्याख्या—एतत्सर्वं सुगमं, पूर्ववज्ज्ञेतव्याः सर्वेऽपि दृष्टान्ताः । एतावता यदीश्वरकृतत्वेनाभ्युपगम्यते तत्सर्वं तथ्यं,

---

* " यथा नाम पुष्करिणीस्यात्–तडागरूपा भवेत् " इति बृहद्वृत्तौ । × नास्त्ययं शब्दोऽत्र बृहद्वृत्त्यादर्शेषु ।

+ केवलं हालापुरीयप्रतिकृतावस्य सूत्रस्य व्याख्या ' से ' (तद्) यथा नाम ' उदकपुष्कलं ' प्रचुरपानीयं–उदकप्राचुर्यं, तच्च 'तद्धर्मत्वात्' तत्स्वभावत्वादुदकमेवाभिभूय तिष्ठति, एवं दार्ष्टान्तिकेऽपि " एवम्भूता स्थानान्तरे लिखिताऽस्ति, परं पाश्चात्येन लेखकेन केनापि लिखिता सम्भाव्यते, समस्तानां दृष्टान्तसूत्राणामेवम्भूताया व्याख्याया अनुपलम्भात् ।

अपरं सर्वं मिथ्येति तदाविर्भावयन्नाह—

जंपि य इमं समणाणं निग्गंथाणं उद्दिट्ठं पणियं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडगं, तंजहा—आयारो सूयगडो जाव दिट्ठिवाओ, सव्वमेयं मिच्छा, ण एयं तहियं ण एयं अहातहियं

व्याख्या—यदपि चेदं प्रत्यक्षासन्नभूतं 'श्रमणानां' साधूनां 'उद्दिष्टं' तदर्थं प्रणीतं, व्यञ्जितं-प्रकटीकृतम्। द्वादशाङ्गं गणिपिटकं, तद्यथा–आचाराङ्गं यावद्दृष्टिवादः, सर्वमेतन्मिथ्या, अनीश्वरप्रणीतत्वात्, यदीश्वरप्रणीतं तदेव सत्यमन्यत्सर्वं मिथ्यैव, एतदपि गणिपिटकं ईश्वरप्रणीतं न भवति, स्वेच्छया कल्पितं, तेन मिथ्या। अनया प्ररूपणया अभूतोद्भावनत्वमावेदितं। गणिपिटकं सर्वं दृष्टिवादपर्यन्तमतथ्यमपि तथ्यतया प्रतिपादयन्ति, अचौरे चौरत्ववत् असद्भूतार्थारोपणं कुर्वन्ति जैनाः। एतावता ईश्वरप्रणीतमेव तथ्यं नापरं किमपि। अथ यत्सत्यतया मन्यन्ते तदेवाह—

इमं सच्चं इमं तहितं इमं अहातहितं, [ते] एवं सन्नं कुव्वंति ते एवं सन्नं संठावेंति, ते एवं सन्नं सोवट्ठवयंति। तमेव ते तज्जाइयं दुक्खं णो तिउट्टंति।

व्याख्या—यदीश्वरप्रणीतं तदेव तथ्यं, तदेव यथातथ्यं, ते ईश्वरकारणिका एवं संज्ञां कुर्वन्ति, स्वदर्शनानुरागिणः संज्ञां संस्थापयन्ति। एवम्भूतां संज्ञां वक्ष्यमाणनीत्या निर्युक्तिकामपि सुष्ठु सामीप्येन तथाऽऽग्रहितया तदभिमुखा युक्तीः स्थापयन्ति, तत ईश्वरप्रणीतं सर्वं सचेतनाचेतनं जगदित्यादिप्ररूपणया तमेव तदभ्युपगमजातीयं दुःखहेतुत्वाद्दुःख–मष्टप्रकारं

कर्म न त्रोटयन्ति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—

सउणीपंजरं जहा, ते णो विप्पडिवेदेंति तं जहा—किरियावाई वा जाव अणिरएति वा, एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए, एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना एवं सद्दहमाणा जाव इति णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णेत्ति। तच्चे पुरिसजाते ईसरकारणिएत्ति आहिते (सू० ११)॥

व्याख्या—यथा 'शकुनिः' पक्षिविशेषः पञ्जरं नातिवर्त्तते, पौनःपुन्येन भ्रान्त्वा तत्रैव वर्त्तते, एवं तेऽपि एवम्भूताभ्युपगमवादिनः कर्मबन्धनं 'नातिवर्त्तन्ते' न वा त्रोटयन्ति। ते च स्वाग्रहाभिमानग्रहग्रस्ता नैवद्वक्ष्यमाणं 'विप्रतिवेदयन्ति' न सम्यग् जानन्ति, तद्यथा—क्रियामक्रियां वा शोभनामशोभनां वा, यावदयं [अ]नरक इत्येवं सदसद्विवेकरहितत्वान्नावधारयन्ति। एवमेव यथा कथञ्चित्ते विरूपरूपैः 'कर्मसमारम्भैर्'नानाप्रकारैः सावद्यानुष्ठानैर्द्रव्योपार्जनोपायभूतैर्द्रव्यमुपादाय विरूपरूपा—नुच्चावचान् कामभोगान् समाचरन्ति[भोजनाय], इत्येवं ते अनार्या विरुद्धं मार्गं प्रतिपन्ना न सम्यग्वादिनो भवन्ति। तदेवमीश्वरकर्तृत्वमात्माद्वैतपक्षश्च युक्तिभिर्विचार्यमाणो न कथञ्चित् घटां प्राञ्चति। अत्रैतन्मतनिरासे बहूक्तमस्ति (तद्) बृहट्टीकातोऽवधारणीयं, अत्र ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखितमिति। एवं ते प्रतीयन्तः श्रद्दधानाश्च 'नो हव्वाए नो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसण्ण'त्ति इत्ययं तृतीयः पुरुषजात ईश्वरकारणिक इति। असमञ्जसभाषितया त्यक्त्वा

पूर्वसंयोगमप्राप्तो विवक्षितस्थानमन्तराल एव कामभोगेषु मूर्छितो विषण्ण इत्यवगन्तव्यमिति तृतीयः पुरुषजातः समाप्तः।
अथ चतुर्थं पुरुषजातमधिकृत्याह—

अहावरे चउत्थे पुरिसजाए नियतिवाइएत्ति आहिज्जति—इह खलु पाईणं [वा ४ तहेव जाव सेणावइपुत्ता वा, तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवइ, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव मए एस धम्मे सुअक्खाए सुपन्नत्ते भवइ]।

व्याख्या—अथ चतुर्थः पुरुषजातो नियतिवादिक आख्यायते, स तु नियतिवादी, (एवमाह—) नात्र कश्चित्कालेश्वरादिकं कारणं, नापि पुरुषकारः, तेषां नियतिबलादेवार्थसिद्धेर्नियतिरेव कारणं, उक्तश्च—“प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि यत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥” इत्यादि। “इह खलु पाईणं०” इत्याऽदिको ग्रन्थः प्रागवसेतव्यो, यावदेष धर्मो नियतिवादरूपः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तो भवतीति। स च नियतिवादी स्वाभ्युपगमं दर्शयितुमाह—

इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमातिक्खति एगे पुरिसे णोकिरियमातिक्खति, जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ जे य पुरिसे नोकिरियमाइक्खइ, दोवि ते पुरिसा तुल्ला,

एगट्ठा, [कारणमावन्ना]।

व्याख्या—इहाऽस्मिन् जगति, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, द्वौ पुरुषौ भवतः, तत्रैकः क्रियामाख्याति, क्रिया हि देशाद्देशान्तरावाप्तिलक्षणा पुरुषस्य भवति, न कालेश्वरादिना प्रेरि(तस्य)ता(?) भवति, अपितु नियतिप्रेरितस्य, एवम-क्रियाऽपि, यदिवा क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रितौ तौ द्वावपि नियत्यधीनत्वात्तुल्यौ। यदि पुनस्तौ स्वतन्त्रौ भवतस्तदा क्रियाऽक्रियाभेदान्न तुल्यौ स्यातां इत्यत एकार्थौ, एककारणापन्नत्वादिति, नियतिवशेन तौ नियतिवादमनियतिवादं च समाश्रिताविति भावः। उपलक्षणार्थत्वाच्चास्यान्योऽपि यः कश्चित् कालेश्वरादिकं पक्षान्तरमाश्रयति सोऽपि नियति-प्रेरित एव द्रष्टव्य इति।

बाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, अहमेयमकासि, परो वा जं दुक्खति वा सोयति वा जूरति वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा, परो एवमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्नो। मेहावी पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्नो—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा, णो अहं एवम-

कासि। परो वा जं दुक्खति वा जाव परितप्पइ वा नो परो एवमकासि, एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।

व्याख्या—नियतिवाद्येवं प्ररूपयति—यो 'बालो' मूर्खः स एवं जानाति यत्सुखदुःखाद्युत्पद्यते जन्तूनां तत्सर्वं कालेश्वरादिकृतं जायते। तद्यथा—योऽहमस्मि दुःखं—शारीरमानसमनुभवामि तथा 'सोयामि' इष्टानिष्टविप्रयोग[संप्रयोग]कृतं शोकमनुभवामि तथा 'तिप्पामि' शारीरबलात् क्षरामि तथा 'पीडामि' सबाह्याभ्यन्तरया पीडया पीडामनुभवामि। तथा 'परितप्पामि' परितापमनुभवामि 'जूरयामि' अनार्यकर्मणि प्रवृत्तमात्मानं गर्हामि, अनर्थोत्रासौ विसूरयामि। तदेवं यदहं सुखदुःखशोकादिकमनुभवामि तत्सर्वं मयैव परपीडयाऽर्जितं ममोदयमागतम्। तथा परोऽपि यत्सुखदुःखादिकमनुभवति मयि वाऽऽपादयति तत्स्वयमेव कृतमिति दर्शयति—'परो वे' त्यादि। तथा परोऽपि यन्मां दुःखयति शोचयति इत्यादि प्राग्वज्ज्ञेयं, तत्सर्वमहमकार्षम्। बालोऽज्ञ एवं [वि]प्रतिवेदयति—जानीते। स्वकारणं वा परकारणं वा सर्वं दुःखादि पुरुषाकारा[दि]कृतमिति जानीते, तदेवं नियतिवादी पुरुषाकारकारणवादिनो बालत्वमापाद्य स्वमतमाह 'मेहावी' त्यादि, 'मेधावी' नियतिवादपक्षाश्रयी एवं विप्रतिवेदयति—जानीते। 'कारणमापन्न' इति नियतिरेव कारणं सु[खदुः]खाद्यनुभवस्य। तद्यथा—योऽहमस्मि 'दुःखयामि' शोचयामि तथा 'तिप्पामि'त्ति क्षरामि पीडामनुभवामि परितापमनुभवामि, नाहमेवमकार्षं दुःखं, अपि तु नियतित एवैतन्मय्यागतं, न पुरुषाकारादिकृतं, यतो—नहि कस्यचिदात्मा अनिष्टो, येनानिष्टा

दुःखोत्पादिकाः क्रियाः समारभते । नियत्यैवात्मा अनिच्छन्नपि तत्कार्यते येन दुःखी भवेत् । कारणमापन्न इति परेऽप्येवमायोजनी(या)यम् । एवं स नियतिवादी इष्टं पुरुषकारं परित्यज्य [अदृष्ट] नियतिपक्षाश्रयणेन महाऽविवेकी स्वकारणं परकारणं च दुःखशोकादिकमनुभवन्नियतिकृतमित्येवं विप्रतिवेदयति, नात्मनः कृतं । कारणं चात्रैकस्या[सदनुष्ठानरतस्या]पि न दुःखमुत्पद्यते, परस्य तु सदनुष्ठायिनोऽपि तद्भवतीत्यतो नियतिरेव कर्त्रीति नियतिवादे स्थिते परमपि यत्किञ्चि[च]त्सर्वं नियत्यधीनमिति दर्शयितुमाह—

से बेमि—पाइणं वा ४ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमागच्छंति, ते एवं विपरियासमावज्जंति, ते एवं विवेगमागच्छंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एवं संगतियंति उवेहाए नो एवं विप्पडिवेदेंति । तं जहा—

व्याख्या—सोऽहं नियतिवादी 'ब्रवीमि' प्रतिपादयामि, ये केचन प्राच्यादिषु दिक्षु त्रसाः स्थावराश्च प्राणिनस्ते सर्वेऽप्येवं नियतित एवौदारिकादिशरीरसम्बन्धमागच्छन्ति, नान्येन केनचित्कर्मादिना शरीरं प्राप्नुवन्ते, तथा बाल–कुमार–यौवन–स्थविर–वृद्धावस्थादिकं विविधं पर्यायं नियतित एवानुभवन्ति, तथा नियतित एव 'विवेकं' शरीरात्पृथग्भावमनुभवन्ति, तथा नियतित एव विविधं 'विधानं' अवस्थाविशेषं कुब्जकाणखञ्जवामनकजरामरणं रोगशोकादिकं बीभत्समागच्छन्ति । तदेवं ते प्राणिनस्त्रसाः स्थावरा 'एवं' पूर्वोक्तया नीत्या सङ्गतिं यान्ति—नियतिमापन्नाः नानावि-

विषानमाजो भवन्ति । तदुत्प्रेक्षया—नियतिवादोत्प्रेक्षया पतिकञ्चनकारितया परलोकभीरवो नैतद्विप्रतिवेदयन्ति—जानन्ति ।

तदेवाऽऽह—

किरियाति वा जाव णिरएत्ति वा अणिरएत्ति वा, एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए । एवामेव ते अणारिया विप्पडिवन्ना तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए अंतरा कामभोगेसु विसन्ना । चउत्थे पुरिसजाते णियइवातिए त्ति आहि[ए]ज्जति ।

व्याख्या—ते नियतिवादिनो नियतिपक्षमेवाश्रिताः नान्यत्किमपि विदन्ति—क्रियामक्रियां सिद्धिमसिद्धिं चेत्यादि न जानन्ति । नियतिमेवाश्रित्य तमेव निर्युक्तिकं नियतिवादं श्रद्दधानास्तमेव प्रतीयन्त इत्यादि तावज्ज्ञेयं यावदन्तरा कामभोगेषु विषण्णा आत्मानमन्यांश्चोद्धर्तुमशक्ताः ऐहिकामुष्मिकाऽऽकृष्टा मुक्तिमप्राप्ता अन्तराल एव संसारपङ्के मग्नाः [पद्मवर]पुण्डरीकोद्धरणासमर्थाः सन्त एवमेवावतिष्ठन्ते इति चतुर्थः पुरुषजातः समाप्त इति । एतावता चतुर्थः पुरुषो नियतिपक्षाश्रित उक्तः । उपसञ्जिघृक्षुराह—

इच्चेते चत्तारि पुरिसजाता णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई नाणा-

रंभा नाणाज्झवसाणसंजुत्ता पहीणपुव्वसंजोगा आरियं मग्गमसंपत्ता इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा (सू० १९) ।

व्याख्या—'इत्येते' पूर्वोक्तास्तज्जीवतच्छरीर-पञ्चमहाभूते-श्वरकर्तृत्व-नियतिवाद-पक्षाश्रयिणश्चत्वारः पुरुषाः नानाप्रकारा'प्रज्ञा'मतिर्येषां ते तथा 'नानाछन्दा' नानाऽभिप्रायाः 'नानाशीला' नानाऽऽचारा इत्यर्थः, नानारूपा 'दृष्टि'-दर्शनं येषां ते नानादृष्टयः। तथा नानारुचयः 'नानाऽऽरम्भाः' नानाप्रकारधर्म्मानुष्ठानाः नानाऽध्यवसायसंयुक्ताः—धर्म्मार्थमुद्यताः परित्यक्तपूर्वसंयोगाः—मातृपितृकलत्रपुत्रसम्बन्धाः आर्यमार्गमसम्प्राप्ताः, इति पूर्वोक्तया नीत्या ते चत्वारोऽपि नास्तिकादयः पुरुषाः 'नो हव्वाए'त्ति नैहिकसुखभाजो भवन्ति तथा 'नो पाराए'त्ति असम्प्राप्तत्वादार्यमार्गस्य सर्वोपाधिविशुद्धस्य प्रगुणमोक्षपद्धतिरूपस्य न संसारपारगामिनो भवन्ति। न च परलोके शुभ[सुख]भाजो भवन्तीति, किन्त्वन्तराल एव—गृहवासार्यमार्गयोर्मध्यवर्त्तिन एव कामभोगेषु 'विषण्णाः' अध्युपपन्ना, दुस्तरपङ्कमग्ना इव करिणो विषीदन्तीति स्थितम्। उक्ताः परतीर्थिकाः, साम्प्रतं लोकोत्तरं रूक्षवृत्तिं भिक्षुं पञ्चमं पुरुषजातमधिकृत्याह—

से बेमि पाईणं वा० ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा-आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा

वेगे ×तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा×, तेसिं च णं अणजाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा, तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता संतो वि एगे णायओ [अणायओ] य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, असतो वा [वि] णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता, [जे ते सतो वा असतो वा णायओ य अणायओ य उवगरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता] पुव्वमेव तेहिं णायं भवति, तं जहा—

व्याख्या—यादृक्कामभोगेष्व(ना)सक्तः सन्नन्तरा नावसीदति पद्मवरपुण्डरीकोद्धरणाय च समर्थो भवति तदेतदहं ब्रवीमि—प्राचीनादिकामन्यतरां दिशमुद्दिश्य एके केचन मनुष्याः सन्ति, आर्याऽनार्याः उच्चैर्गोत्राः नीचैर्गोत्राः * 'कायवन्तः' प्रांशवः 'ह्रस्वाः' वामनाः * सुवर्णाः दुर्वर्णाः सुरूपाः कुरूपाः, एके केचन कर्मपरवशा भवन्ति, तेषां च क्षेत्राणि वास्तूनि—[गृहाणि]

× × नास्त्येतच्चिन्हान्तर्गतो मूलपाठः सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु, वृत्तिस्तु विहिता वृत्तिकृत्पूज्यैः ।

* एतच्चिन्हान्तर्गतो वृत्तिपाठः " कुरूपाः " इत्यतोऽनन्तरमस्ति सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिषु, परं सूत्रानुसारतो युज्यतेऽत्रैवातोऽत्र नियोजितः ।

खातोच्छ्रिता[दी]नि परिगृहीतानि भवन्ति, तान्येव विशिनष्टि–अल्पतराणि स्तोक[? प्रभूत]तराणि वा भवन्ति, तेषामेव जन-[जान]पदाः परिगृहीता भवन्ति, तेऽप्यल्पतराः प्रभूततरा वा भवेयुस्तथा तेषु चाऽऽर्यादिविशेषणविशिष्टेषु तथाप्रकारेषु कुलेष्वागम्य एवम्भूतानि गृहाणि गत्वा तथाप्रकारेषु कुलेषु वा आगम्य–जन्म लब्ध्वा अभिभूय च विषयकषायादीन् परीषहोपसर्गान् वा सम्यगुत्थानेनोत्थाय–प्रव्रज्यां गृहीत्वा एके केचन तथाविधसत्त्ववन्तो भिक्षाचर्यायां समुत्थितास्तथा 'सतो' विद्यमानानपि वा 'एके' केचन महासत्त्वोपेताः 'ज्ञातीन्' स्वज[नान् 'अज्ञातीन्' परिज]नांस्तथोपकरणं च–कामभोगाङ्गं धनधान्यहिरण्यादिकं विविधं प्रकर्षेण 'हित्वा' त्यक्त्वा भिक्षाचर्यायां समुत्थिताः। असतो वा ज्ञाती(नज्ञाती)-नुपकरणं च विप्रहाय भिक्षाचर्यायामेके केचनापगतस्वजनविभवाः समुत्थिताः, ये ते पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा भिक्षाचर्याया-मभ्युद्यताः 'पूर्वमेव' प्रव्रज्याग्रहणकाल एव तैरेतत् ज्ञातं भवति, तद्यथा—

इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेति, तं जहा–खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवन्नं मे धणं मे धन्नं मे कंसं मे दूसं मे, विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवाल-रत्तरयणसंतसारसावतेयं मे, सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे, एते खलु मम कामभोगा अहं खलु एतेसिं। से मेहावी पुव्वामेव अप्पणो एवं समभिजाणेज्जा, तं जहा–

व्याख्या—इह जगति, खलु–वाक्यालङ्कारे, अन्यदन्यद्वस्तूद्दिश्य ममैतद्भोगाय भविष्यतीत्येवमसौ प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः

प्रविव्रजिषुर्वा 'प्रवेदयति' जानाति, यथा—क्षेत्रं 'वास्तु' गृहं हिरण्यं सुवर्णं धनं धान्यं काँस्यं दूष्यं [तथा] विपुलधनकनकरत्नमणिमौक्तिकशङ्खशिलाप्रवालरक्तरत्नादिकं सत्सारं 'स्वापतेयं' द्रव्यजातं सर्वं मे, तत् 'मे' ममोपभोगाय भविष्यति। तथा शब्दाः रूपाणि गन्धाः रसाः स्पर्शाः, एते सर्वे खलु मे कामभोगाय भविष्यन्ति, अहमप्येषां योगक्षेमार्थं प्रभविष्यामि, इत्येवं सम्प्रधार्य पूर्वमेवात्मानं विजानीया—देवं पर्यालोचयेत्तद्यथा—

इह खलु मम अन्नयरे [दुक्खे] रोगातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने अमणामे दुक्खे णो सुहे से हंता, भयंतारो! कामभोगा! इमं मम अन्नतरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह, अणिट्ठं अकंतं जाव दुक्खं णो सुहं, ताऽहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मं अन्नयराओ दुक्खाओ रोगातंकाओ परिमोयह, अणिट्ठाओ जाव अमणामाओ दुक्खाओ, णो सुहाओ, एवं नो लद्धपुव्वं भवति।

व्याख्या—'इह' संसारे, खल्ववधारणे। 'इह' मनुष्यभवे ममान्यतरद्दुःखं—शिरोवेदनादिकं 'आतङ्को' वा आशुजीवितव्यापहारी शूलादिकः समुत्पद्यते। कीदृशः? अनिष्टः अकान्तः अप्रियः अशुभः अमनोज्ञः अवनामः दुःखः, दुःखहेतुत्वात् 'णो सुहे' सुखलेशेनाप्यस्पृष्टः, एवंविधः आतङ्क आयाति तदा कामभोगान् प्रत्येवं वक्ति, यथा—'हंत' इति खेदे, भयात्रातारो यूयं क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यादिकाः परिग्रहविशेषाः, तथा शब्दादयो वा विषयाः, हे भ[ग]वन्तः!

कामभोगाः ! यूयं मया पालिताः परिगृहीता[श्च], अतो यूयमपीदं दुःखं रोगातङ्कं 'परियाइयह' त्ति विभागशः परिगृह्णीत यूयं, अत्यन्तपीडयोद्विग्नः पुनस्तदेव दुःखं रोगातङ्कं च विशेषणद्वारेणोच्चारयति–[अनिट्ठं] अकान्तमप्रियमशुभं, यावदमनोज्ञं दुःखमेव, ततोऽशुभमित्येवम्भूतं ममोत्पन्नं, यूयं विभजत, अहमतीव 'दुःखामि' दुःखित इत्यादि पूर्ववन्नेयं, इत्यतो [ऽमुष्मात्] मामन्यतराद्दुःखाद्रोगाद्वा प्रतिमोचयत । अनिष्टादित्यादि विशेषणानि पूर्ववद्व्याख्येयानि, प्रथमं प्रथमान्तानि, पुनर्द्वितीयान्तानि, साम्प्रतं पञ्चम्यन्तानि । एवं तेन दुःखोद्विग्नेन प्रतिपादितं परं नैतल्लब्धपूर्वं भवति, न हि ते क्षेत्रादयः परिग्रहविशेषाः नापि शब्दादयः कामभोगास्तं दुःखितं दुःखाद्विमोचयन्तीत्येतदेव लेशतो दर्शयति—

इह खलु कामभोगा नो ताणाए वा[णो]सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगया तं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो इति संखाए णं वयं च कामभोगे विप्पजहिस्सामो ।

व्याख्या—इह खल्विमे कामभोगा अत्यन्तमभ्यस्ता न 'तस्य' दुःखितस्य त्राणाय शरणाय[वा] भवन्ति । सुलालितानामपि कामभोगानां पर्यवसानं दर्शयति—'पुरुषो वा' प्राणी 'एकदा' रोगोत्पत्तिकाले जराजीर्णकाले वा अन्यस्मिन्वा राजाद्युपद्रवे 'तान्' कामभोगान् परित्यजति स वा प्राणी द्रव्याद्यभावे तैः कामभोगैस्त्यज्यते । स च प्राप्येवमवधारयति–इमे कामभोगा अन्ये तेभ्यश्चाहमन्यः, तदेवमेतेषु परभूतेषु किमिति वयं मूर्छां कुर्मः ? एवं केचन महापुरुषाः

'परिसंख्याय' ज्ञात्वा [वे] "कामभोगान् [अयं] 'विप्रजहिष्याम'स्त्यक्ष्यामः" इत्येवमध्यवसायिनो भवन्ति-ते महापुरुषा ज्ञेयाः । पुनरपरं वैराग्योत्पत्तिकारणमाह—

से मेहावी जाणेज्जा बाहिरंगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं, तं जहा—माता मे पिता मे भाया मे भइणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूया मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सुही मे [पिया मे सहा मे] सयणसंगंथसंथुया मे, एते खलु मम नायओ अहमवि एतेसिं । एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा ।

व्याख्या—एते खलु क्षेत्रवास्तुप्रभृतयः परिग्रहविशेषाः शब्दादयश्च विषयाः दुःखपरित्राणाय न भवन्तीत्युक्तं, तदेते बाह्या विद्यन्ते, परमेते मातापित्रादयो ज्ञातयः पूर्वापरसँस्तुता एते ममोपकाराय भविष्यन्तीत्यहमपि [ए]तेषां स्नानभोजनादिनोपकरिष्यामीत्येवं स मेधावी पूर्वमेवात्मना एवं समभिजानीयादित्येवं पर्यालोचयेत्-कल्पितवानिति । एतदध्यवसायी चासौ स्यादिति दर्शयितुमाह—

इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे, णो सुहे, से हंता भयंतारो य णायओ य इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियादियह, अणिट्ठं जाव णो सुहं,

ताऽहं दुखामि वा सोयामि वा जाव परितप्पामि वा, इमाओ मं अन्नयराओ [दुक्खाओ] रोगायंकाओ परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवामेव नो लद्धपुव्वं भवइ। तेसिं वा वि भयंताराणं मम णाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा [जाव मा मे परितप्पंतु वा], इमाओ[णं] अन्नयराओ दुक्खाओ रोयातंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ। एवामेव नो लद्धपुव्वं भवति—अन्नस्स दुक्खं अन्नो नो परियादियति अन्नेण क(डं)तं अन्नो नो पडिसंवेदेति, पत्तेयं जायति पत्तेयं मरति पत्तेयं चयति पत्तेयं उववज्जति पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना, एवं विन्नू वेदणा, इति खलु नातिसंजोगा णो ताणाए वा सरणाए वा, पुरिसे य एगया पुव्विं नातिसंजोए विप्पजहाति नातिसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति। अन्ने खलु नातिसंजोगा अन्नो अहमंसि, किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंगेहिं मुच्छामो?

इति संखाए णं वयं नातिसंजोगं विप्पजहिस्सामो इति * ।

व्याख्या—'इह' अस्मिन् भवे मम वर्त्तमानस्य अनिष्टादिविशेषणविशिष्टो दुःखातङ्कः समुत्पद्येत, ततोऽसौ तद्दुःखदुःखितो ज्ञातीनेवमभ्यर्थयेत्, तद्यथा—इदं ममान्यतरं दुःखातङ्कं समुत्पन्नं परिगृह्णीत यूयं, अहमनेन दुःखातङ्केन पीडितोऽस्मि, अतोऽमुष्मान्मां परिमोचयत यूयमिति। न चैतत्तेन दुःखितेन लब्धपूर्वं भवति, न हि ते ज्ञातयस्तं दुःखान्मोचयितुमलमिति भावः, नाप्यसौ तेषां दुःखमोचनायालमिति। 'तेसिं वा वि भयंतारणं मम णायथाण'मित्यादि सर्वं प्राग्वद्योजनीयं, यावदेवं नो लब्धपूर्वं भवतीति। किमित्येवं नो लब्धपूर्वं भवतीत्याह—'अन्नस्स दुक्खं नो अन्नो परियादियइ' इत्यादि, सर्वस्यैव संसारोदरविवरवर्त्तिनोऽसुमतः स्वकृतकर्मोदयाद्दुःखमुत्पद्यते तदन्यस्य दुःखमन्यो मातापित्रादिको न पर्याद्त्ते तस्मात्पुत्रादेर्दुःखेनात्यन्तं पीडिताः स्वजना नापि तद्दुःखमात्मनि कर्त्तुमलं। किमित्येवमाशङ्क्याह—'अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेति' अन्येन जन्तुना मोहवशगेन यत्कृतं कर्म तदन्यः प्राणी नो प्रतिसंवेदयति—नानुभवति, तदनुभवने ह्यकृतागमकृतनाशौ स्यातां, न चेमौ युक्तिसंगतौ, अतो यद्येन कृतं तत्स एवानुभवति, यस्मात्स्वकृतकर्मफलेश्वरा जन्तवस्तस्मात् 'पत्तेयं जायति पत्तेयं मरति' इत्यादि, सर्वोऽपि प्राणी प्रत्येकं जायते प्रत्येकं च म्रियते, यतः—"एकस्य जन्ममरणे, गतयश्च शुभाशुभा भवावर्त्ते। तस्मादाकालिकहित-मेकेनैवात्मनः कार्यम्॥ १॥" इति। तथा

---

* नास्त्येष शब्दो मुद्रितासु सवृत्तिकप्रतिषु हर्षकुलीयदीपिकायामपि।

प्रत्येकं [क्षेत्रवास्तु] हिरण्यसुवर्णादिकं परिग्रहं शब्दादींश्च विषयान्मातापितृपुत्रकलत्रादिकं [च] त्यजति। प्रत्येकमुपपद्यते, प्रत्येकं 'झंझा' कलहः कषायाश्च प्रत्येकं मन्द–तीव्रतया समुत्पद्यन्ते । तथा प्रत्येकं 'सञ्ज्ञा' अर्थपरिच्छित्तिः, साऽपि मन्दमन्दतरपटुपटुतरभेदात्प्रत्येकमुपजायते । सर्वज्ञादारतस्तरतमयोगेन मतेर्व्यवस्थितत्वात् । तथा प्रत्येकं 'मननं' पर्यालोचनं तथा +प्रत्येकमेव सुखदुःखानुभवः । उप[सं]जिघृक्षुराह–'इति खलु नातिसंजोगा नो ताणाए वा सरणाए वा' इति पूर्वोक्तप्रकारेण, यतो नान्येन कृतमन्यः प्रतिसंवेदयते प्रत्येकं[च]जातिजरामरणादिकं, ततः खल्वमी ज्ञातिसंयोगाः संसारेऽत्यन्तपीडितस्य तदुद्धरणे न त्राणाय नापि शरणाय । किमिति ? यतः पुरुष एकदा क्रोधोदयेन ज्ञातिसंयोगान् 'विप्रजहाति' त्यजति स्वजना वा तदनाचारदर्शनतस्तं पुरुषं त्यजन्ति । तदेवं व्यवस्थिते एवं भावयेत्–खल्वमी ज्ञातिसंयोगा मत्तो भिन्ना, एभ्यश्चाहमन्यः । ततः किमन्यै[रन्यै]र्ज्ञातिसंयोगैर्मूर्च्छां कुर्मः ? न तेषु मूर्च्छा क्रियमाणा न्याय्येत्येवं 'संख्याय' ज्ञात्वा वयमुत्पन्नवैराग्या ज्ञातिसंयोगाँस्त्यक्ष्याम इत्येवं ये कृताध्यवसायिनस्ते 'विज्ञाः' पंडिताः, ते विदितवेद्या भवन्तीति । साम्प्रतमन्येन प्रकारेण वैराग्योत्पत्तिकारणमाह—

से मेहावी जाणिज्जा बाहिरगमेयं, इणमेव उवणीयतरागं, तंजहा–हत्था मे पाया मे बाहा मे ऊरू मे उदरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे

+ "प्रत्येकमेव 'विण्णु'त्ति विज्ञान, तथा" इति वृहद्वृत्तौ ।

जिब्भा मे फासा मे ममातिआरि वयाओ पडिजूरति, तंजहा—आऊओ बलाओ वन्नाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ, सुसंधिता संधी विसंधी हवंति। वलि[य]तरंगे गाए भवति। किण्हा केसा पलिया भवंति। तंजहा—जंपि य इमं सरीरं उरालं आहारोवचियं, एयंपि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति। एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिए दुहओ लोगं जाणेज्जा, [तंजहा—] जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव थावरा चेव (सू. १२)।

व्याख्या—स मेधावी एतद्वक्ष्यमाणं जानीयात्, तद्यथा—बाह्यतरमेतज्ज्ञातिसम्बन्धनमिदं, इदमुपनीततर-मासन्नतरं, शरीरावयवानां आसन्नतरत्वात्। तद्यथा—हस्तौ मे पादौ मे पद्मगर्भसुकुमारौ, नान्यस्य कस्यापीदृशावित्यादि। शीर्षं मे उदरं मे शीलं मे आयुर्मे वर्णबलत्वक्छायाश्रोत्रचक्षुर्नासिकाजिह्वास्पर्शनेन्द्रियमित्याद्यङ्गोपाङ्गाः सर्वेऽपि सुन्दरतराः, इत्येवं 'ममाति' ममी करोति, यादृङ् मे न तादृगन्यस्येति भावः। एतच्च हस्तपादादिकं स्पर्शनेन्द्रियपर्यवसानं वयसः परिणामात्कालकृतावस्थाविशेषात् 'परिजूरइ'त्ति परिजीर्यते—जीर्णतां याति, प्रतिक्षणं विशरारुतां याति। तस्मिंश्च प्रतिक्षणं विशीर्यति शरीरे प्रतिसमयं प्राण्येतस्माद्ध्रस्यते, तद्यथा—आयुषः पूर्वनिबद्धात्समयादिहान्या अपचीयते, आवीची-मरणेन प्रतिसमयं मरणाभ्युपगमात्। तथा बलादपचीयते, तथाहि—यौवनावस्थायाऽप्ययमाने शरीरके प्रतिक्षणं शिथिली-

भवन्तु सन्धिबन्धनेषु बलादवश्यं श्लथते । तथा वर्णात्त्वचश्छायातोऽपचीयते । अत्र सनत्कुमारचक्रिणो दृष्टान्तो वाच्यः । तथा जीर्यति शरीरे श्रोत्रादीन्द्रियाणि हीयन्ते । तथा च वयोहान्या 'सुसन्धितः' सुबद्धः 'सन्धि' र्जानुकूर्परादिको विसन्धिर्भवति-विग[लि]तबन्धनो जायते । तथा वलितरङ्गाकुलं सर्वतः शिरा(नाडी)जालवेष्टितमिदं वपुरुद्वेगकृद्भवति । तथा कृष्णाः केशाः वयोहान्या धवला जायन्ते । ततो वयःपरिणामे सन्मतिरेवं भावयेत्, तथाहि-यदपीदं शरीरं उदारशोभं विशिष्टाहारोपचितं एतदपि ममावश्यं प्रतिक्षणं निशीर्यमाणमायुषः क्षये विप्रहातव्यं भविष्यतीत्येतदवगम्य-संख्याय परित्यक्तसमस्तगृहप्रपञ्चो निष्किञ्चनतामुपगम्य संयमयात्रार्थं भिक्षाचर्यायां समुत्थितः सन् द्विधा लोकं जानीयात् । तदेव लोकद्वैविध्यं दर्शयति-'जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव थावरा चेव' तत्र जीवाः-प्राणधारणलक्षणास्तद्विपरीता अजीवा धर्मास्तिकायादयः, तत्र भिक्षोरहिंसाप्रसिद्धये जीवान् विभागेन दर्शयति-इह खलु जीवा अपि द्विधा-त्रसाः स्थावराश्च, तेऽपि सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तकभेदेन बहुधा द्रष्टव्याः । एतेषु चोपरि बहुधा व्यापारः प्रवर्त्तते । अथ तदुपमर्दकव्यापारकर्तॄन् दर्शयितुमाह—

इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तसा थावरा पाणा, ते सयं समारंभंति, अन्नेण वि समारंभाविंति, अन्नं पि समारंभंतं समणुजाणंति।

व्याख्या—इह खलु संसारे गृहस्थाः 'सारम्भाः' जीवोपमर्दकारिणो वर्त्तन्ते सपरिग्रहाश्च वर्त्तन्ते, न केवलं गृहस्था

नुष्ठानेन वा 'अनुपस्थिताः' सम्यगुत्थानमकृतवन्तो येऽपि कथञ्चिद्धर्मकरणायोत्थितास्तेप्युद्दिष्टभोजित्वात्सावद्यानुष्ठानपरत्वाच्च गृहस्थकल्पा एवेति। [साम्प्रतमुपसंहरति–]

जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, दुहतो पावाइं कुव्वंति, इति संखाए दोहि वि अंतेहिं अदिस्समाणो इति भिक्खू रीएज्जा।

व्याख्या—ये इमे गृहस्थादयस्ते द्विधाऽपि सारम्भसपरिग्रहत्वाभ्यामुभाभ्यामपि पापान्युपाददते, यदि वा रागद्वेषाभ्यां यदि वा गृहस्थप्रव्रज्यापर्यायाभ्यां उभाभ्यां पापानि कुर्वत इत्येवं 'संख्याय' ज्ञात्वा द्वयोरप्यन्तयो[रारम्भपरिग्रहयो]रागद्वेषयोर्वा अदृश्यमानो भिक्षुरनवद्याहारभोजी सत्संयमानुष्ठाने 'रीयेत' प्रवर्तेत।

से बेमि– पाईणं वा ४ जाव एवं से परिन्नायकम्मे, एवं से विवेय[वन्तेय]कम्मे। एवं से वियंतकरए भवतीति मक्खायं (सू. १४)

व्याख्या—'से बेमि' तदहमधिकृतमेवार्थं विशेषिततरं सोपपत्तिकं ब्रवीमि—प्रज्ञापकापेक्षया प्राच्यादिकाया दिशोऽन्यतरस्याः समायातः–स भिक्षुर्द्वयोरप्यन्तयोरदृश्यमानतया सत्संयमे रीयमाणः सन्नेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्याय+ कर्मणामन्तकृद्भवति। अनेन प्रकारेण संसारस्याप्यन्तकृद्भवतीत्येतत्तीर्थ-

---

+ "परिज्ञातकर्मा भवति, पुनरपि 'एवमिति परिज्ञातकर्मत्वाद्व्यपेतकर्मा भवति–अपूर्वस्याबन्धको भवतीत्यर्थः, पुनरेवमित्य-

करगणधरैराख्यातमिति प्राणिवधप्रवृत्तस्य न कर्मापगमो भवति, यतस्तत्प्रवृत्तस्यात्मौपम्येन प्राणीनां पीडोत्पद्यते, तया च कर्मबन्धः, इत्येवं सर्वं मनस्याधायाह—

तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाया हेऊ पन्नत्ता, तंजहा—पुढविका[ए]इया जाव तसका[ए]इया से जहा नामए मम अस्सायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउडिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परियाविज्जमाणस्स वा किलि-[किलामि]ज्ज माणस्स वा ×उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकारगं दुःखं भयं पडिसंवेएमि, इच्चेवं जाणं सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउड्डिज्जमाणा + वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा तालिज्जमाणा वा परिताविज्जमाणा वा किला-

---

बन्धकस्तथा योगनिरोधोपायतः × × × विशेषेण ” इति बृहद्वृत्तौ ।

× अर्थसङ्गत्या ‘ ओद्दविज्ज० ’ इत्येवं पाठो युज्यत इत्येष ममाभिप्रायः ।

+ यद्यप्येतेषु सप्तस्वपि पदेषु ‘ माणाण वा ’ इत्येवमेवोपलभ्यते पाठः सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिषु, किन्तु मुद्रितासु सवृत्तिकप्रतिषु ‘ माणा वा ’ इत्येवमस्ति, अर्थसङ्गत्या तु ‘ माणाण वा ’ इत्येतदेव युक्तमाभाति ।

भिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं नच्चा सव्वे पाणा न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघेत्तव्वा न परियावेयव्वा न उवद्दवेयव्वा। से बेमि—

व्याख्या—'तत्रे'ति कर्मबन्धप्रस्तावे खलु भगवता षड्जीवनिकाया हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, पृथिवीकायो यावत्त्रसकाय इति। तेषां च पीड्यमानानां यथा दुःखमुत्पद्यते तथा स्वसंवित्तिसिद्धेन दृष्टान्तेन दर्शयितुमाह—यथा नाम मम 'असातं' दुःखमुत्पद्यते तथा तेषामपीति। तद्यथा—दण्डेन अस्थ्ना मुष्टिना 'लेलुना' लोष्ठेन कपालेन 'आकोट्यमानस्य' सङ्कोच्यमानस्य हन्यमानस्य तर्ज्यमानस्य, ताड्यमानस्य कुड्यादावभिघातादिना, परिताप्यमानस्य तथा'ऽपद्राव्यमानस्य' मार्यमाणस्य यावल्लोमोत्खननमात्रमपि हिंसाकरं दुःखं भयं च यन्मयि क्रियते तत्सर्वमहं संवेदयामीत्येवं जानीहि। तथा सर्वे प्राणा जीवा भूतानि सत्त्वा, एतेषां दण्डादिनाऽऽकुट्यमानानां यावल्लोमोत्खननमात्रमपि दुःखं हिंसाकरं भयं चोत्पन्नं तेऽपि प्राणिनः सर्वेऽपि 'प्रतिसंवेदयन्ति' साक्षादनुभवन्तीत्येवमात्मोपमया पीड्यमानानां जन्तूनां यतो दुःखमुत्पद्यते, अतः सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या न व्यापादयितव्या 'न आज्ञापयितव्या' न बलात्कारेण व्यापारे प्रयोक्तव्यास्तथा न परिग्राह्या न परितापयितव्याः नापद्रावयितव्याः। सोऽहं ब्रवीमि एतच्च स्वमनीषिकया, किन्तु सर्वतीर्थकराज्ञयेति[दर्शयति]—

जे[य]अतीया जे[य]पडुप्पन्ना जे[य]आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो, ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पन्नविंति एवं परूविंति—सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाव ण उवद्-

वेयवा, एस धम्मे धुवे णितिए सासए समेच्च लोगं खेयण्णेहिं पवेदिते ।

व्याख्या—'जे[य] अतीया' इत्यादि सर्वं सुगमं । नवरमयं धर्मः प्राणिरक्षणलक्षणो ध्रुवो 'नित्यः' अवश्यंभावी-शाश्वतः । इत्येष चाभिसमेत्य-ज्ञानेनावलोक्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकं लोकं 'खेदज्ञै'स्तीर्थकृद्भिः प्रवेदितः । एवं ज्ञात्वा स भिक्षुर्विदितवेद्यो विरतः प्राणातिपाताद्यावत्परिग्रहादिति, एतदेव दर्शयितुमाह—

एवं से भिक्खू विरए पाणातिवायाओ जाव विरते परिग्गहाओ, नो खलु दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा णो अंजणेणं अंजेज्जा णो वमणं णो धूवणे णो तं परियाविएज्जा । से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे, नो आसंसं पुरओ कुज्जा ।

व्याख्या—तथाऽपरिग्रहः साधुर्निष्किञ्चनः सन् नो दन्तप्रक्षालनेन दन्तान् प्रक्षालयेत्, नो अञ्जनं विभूषार्थमक्ष्णोर्दद्यात्, नो वमनविरेचनादिकाः क्रियाः कुर्यात्, न शरीरस्य वस्त्राणां वा धूपनं कुर्यात्, न कासाद्यपनयनार्थं धूमं योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति । एवं गुणव्यवस्थितो भिक्षु'रक्रियः' सावद्यक्रियारहितः संवृतात्मकतया साम्परायिककर्माबन्धकः, कुत एवम्भूतो ? यतः प्राणिना'मलूषको'ऽहिंसकः, एवमक्रोधोऽमानोऽमायी अलोभः कषायोपशमाच्चोपशान्तः 'परिनिर्वृतः' समाधिवान् । एवमैहिककामभोगेभ्यो निवृत्तः पारलौकिकेभ्योऽपि विरत इति दर्शयति-'नो आसंसं पुरओ कुज्जा'नो नैवाशंसा-ममानेन तपसा जन्मान्तरे कामभोगावाप्तिर्भविष्यतीत्येवम्भूतामाशंसां न पुरतः कुर्यात् । इत्येतदेव दर्शयति—

इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मएण वा विन्नाएण वा इमेण वा सुचरियतवनियमबंभचेर-वासेणं इमेण वा जायामायावत्तिएणं धम्मेणं इओ चुए पिच्चा देवे सिया, कामभोगाण वसवत्ती सिद्धे वा अदुक्खमसुभे ।

व्याख्या—(+एतज्जन्मकृतस्य तपसः फलं आमर्शौषध्यादिलब्धिसम्प्राप्त्या दृष्टं ।) अनेन तपोनियमब्रह्मचर्यादिधर्मकरणीयेन इतो मृतो भवान्तरे देवो भूयासं एवंविधामाशंसां न करोति, अशेषकर्मवियुतो वा सिद्ध ' अदुःख अशुभ ' शुभाशुभकर्मप्रकृत्यपेक्षया, एतावता मध्यस्थः स्यामहं इत्येवंविधामाशंसां न करोति । तदकरणे कारणमाह—

एत्थ वि सिया एत्थ वि नो सिया । से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए रूवेहिं* अमुच्छिए रसेहिं अमु-

---

+ एतस्मिन्नर्द्धचन्द्राकारचिन्हमध्यवर्त्तिपाठस्थाने निर्देक्ष्यमाणः पाठोऽस्ति बृहद्वृत्तौ—" इमेण मे—इत्यादि, अस्मिन्नेव जन्मन्य-मुना विशिष्टतपश्चरणफलेन दृष्टेनामर्शौषध्यादिना तथा पारलौकिकेन च श्रुतेनार्द्रकधम्मिल्लब्रह्मदत्तादीनां विशिष्टतपश्चरणफलेन, तथा ' मएण व ' त्ति ' मन ज्ञाने ' जातिस्मरणादिना ज्ञानेन तथाऽऽचार्यादेः सकाशाद्विज्ञातेन—अवगतेन ममापि विशिष्टं भविष्यती-त्येवं नाशंसां विदध्यात् । "

* * यद्यप्येतच्चिन्हान्तर्गतः सूत्रपाठः सवृत्तिकासु मुद्रितप्रतिषु " गंधेहिं अमुच्छिए रसेहिं अमुच्छिए " इत्येवं व्यत्ययेनास्ति,

च्छिए गंधेहिं अमुच्छिए* फासेहिं अमुच्छिए विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुन्नाओ परपरिवायाओ अरतीओ[अराति]रतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए से भिक्खू।

व्याख्या—अनेन विशिष्टतपसाऽपि स्यात् कदाचित् सिद्धिः कदाचिन्न स्यादपि । अतः आशंसां न कुर्यात् । तदेवमैहिकार्थमामुष्मिकार्थं च कीर्त्तिवर्णश्लोकाद्यर्थं च तपो न विधेयं—न कुर्यादिति। कथम्भूतो भिक्षुः ? शब्दे रूपे रसे गन्धे स्पर्शे अमूर्च्छितः । क्रोधमानमायालोभं यावन्मिथ्यादर्शनशल्यं, एवमष्टादश पापस्थानकेभ्यो विरतः । तथा स भिक्षुर्भवति यो महतः कर्मोपादानादुपशान्तः सन् संयमे चोपस्थितः सर्वपापेभ्यश्च विरतः प्रतिविरत इति। कर्मोपादानाद्विरमणं साक्षाद्दर्शयति—

जे इमे तसा थावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभाति । नेवन्नेहिं समारंभावेति । अन्ने समारंभंते वि न समणुजाणति, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरए [से भिक्खू]।

व्याख्या—इत्यादि सुगमम् । एवं महतः कर्मोपादानादुपशान्तः प्रतिविरतो भवति भिक्षुरिति । साम्प्रतं कामभोग-

---

परं दीपिकाप्रतिषु सर्वास्वप्येतत्क्रमेणैवास्ति, वृत्तिकारेणापि "एवं रूपरसगन्धस्पर्शेष्वपि वाच्यमित्य"नेन वाक्येनैतदेव क्रमः स्वीकृतोऽस्ति ।

निश्रुषिमधिकृत्याऽऽह—

जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा, ते णो सयं परिगिण्हति णो अन्नेणं परिगिण्हावेति अन्नं परिगिण्हंतं न समणुजाणइ, इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू।

व्याख्या—ये केचन काम(।)भोगाश्च ते सचित्ता वा अचित्ता वा भवेयुस्तांश्च न स्वतो गृह्णीयान्नाप्यन्येन ग्राहयेन्नाप्यपरं समनुजानीयादित्येवं कर्मोपादानाद्विरतो भिक्षुर्भवतीति।

जंपि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जति, नो तं सयं करेति नेवन्नेणं कारवेति अन्नंपि करंतं नाणुजाणति, इति से महतो आदाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते (+भवति भिक्खू)।

व्याख्या—येन कर्मणा संसारे पर्यटनमनन्तशो जायते तत्साम्परायिकं कर्म, तच्च प्रद्वेषनिन्हवमात्सर्यान्तरायाशातनोपघातैर्बध्यते, तत्कर्म तत्कारणं वा न कृतकारितानुमतिभिः करोति स भिक्षुरभिधीयते। साम्प्रतं भिक्षाविशुद्धिमधिकृत्याऽऽह—

से भिक्खू जाणेज्जा असणं ४ वा अस्सिं ×पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभं समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसिट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसियं तं चे-

---

+ नास्त्ययेतच्चिन्हान्तर्गतः शब्दः सवृत्तिकासु मुद्रितप्रतिषु।

× आहारदानप्रतिज्ञया यदिवाऽस्मिन् पर्याये—साधुपर्याये व्यवस्थितं साधुं साधर्मिकं समुद्दिश्य। इति टि० २।

तियं सिता, तं० नो सयं भुंजइ नेवन्नेणं भुंजावेति अन्नंपि भुंजंतं नो समणुजाणइ इति से महतो आयाणाओ उवसंते उवट्ठिए पडिविरते से भिक्खू ।

व्याख्या—सुगमम् । यो भिक्षुरेवम्भूतमाहारं +द्वाचत्वारिंशद्दोषदुष्टं स्वयं न गृह्णाति न ग्राहयति गृह्णन्तं न समनुजानाति स भवति भिक्षुरिति । स भिक्षुः पुनरेवं जानीयात्—

विज्जति तेसिं परक्कमे जस्सट्ठाए चेइयं सिया, तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं धातीणं नातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाणं पुढो पहेणाए सामासाए पातरासाए सन्निहिसंनिचए कज्जति इह मेगेसिं माणवाणं भोयणाए ।

व्याख्या—विद्यते 'तेषां' गृहस्थानां 'पराक्रमः' सामर्थ्यं—आहारनिर्वर्त्तनं प्रत्याऽऽरम्भः, तेन च यदाहारजातं-

+"जानीयात् 'असिंस पडियाए' एतत्प्रतिज्ञया एकं साधुसाधर्मिकं समुद्दिश्य कश्चित्प्रकृतिभद्रकः श्रावकः साध्वाहारदानार्थं प्राणिनः समारभ्य—प्राणिघातकमारम्भं कृत्वा सत्त्वान् समुद्दिश्य—तत्पीडां सम्यगुद्दिश्य क्रीतं 'प्रामित्यं' उच्छिन्नकं 'आच्छेद्यं' अन्यस्माराच्छिद्य गृहीतं 'अनिसृष्टं' परेणाननुमतं 'अभ्याहृतं' साधुसम्मुखमानीतं 'आहृत्य' उपेत्य ज्ञात्वा साध्वर्थं कृतमुद्देशिकं, एवम्भूतमाहारं साधवे 'चेतितं' दत्तं स्यात्, साधुना वाऽकामेन गृहीतं स्यात्, तद्दोषदुष्टं ज्ञात्वा स्वयं न भुञ्जीत अन्यं न भोजयेत् न च भुञ्जानमन्यं समनुजानीयात्, एवं" इति दृ० ।

निर्वर्तितं 'यस्य चार्थाय' यत्कृते 'चेतितं' दत्तं, निष्पादितं स्यात्कृचेत् । यत्कृते निष्पादितं तत्स्वनामग्राहमाह, तद्यथा 'आत्मनः' स्वनिमित्तमाहारादिपाकनिर्वर्त्तनं कृतमिति । तथा पुत्रा[द्य×]र्थं 'आदेशार्थं' प्राघूर्णकाद्यर्थं, तथा पृथक्प्रहेणार्थं +विशिष्टाहारनिर्वर्त्तनं क्रियते, तथा 'श्यामा' रात्रिस्तस्यामशनं, तदर्थं यावत्प्रातराशः–प्रत्यूषस्येव भोजनं, तदर्थं सन्निधेः सञ्चयः, विशिष्टाहारसङ्ग्रहस्य सञ्चयः क्रियते । अनेन चैतत्प्रतिपादितं भवति–बालग्लानवृद्धादिनिमित्तं प्रत्यूषादिसमयेष्वपि भिक्षाटनं क्रियते, अतः सन्निधिसञ्चय इहैकेषां मानवानां भोजनार्थं भवति । तत्र भिक्षुरु–द्यतविहारी परकृतपरनिष्ठितमुद्गमोत्पादनैषणाशुद्धमाहारमाहरेत्, कथम्भूतमाहारं ? इत्येवाह–

तत्थ भिक्खू परकडं परनिट्ठितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थाईयं सत्थपरिणामितं अविहिंसितं एसितं वेसितं सामुदाणियं पत्तमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं, अक्खो वंजणवणलेवणभूयं संजमजायामायावत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा, अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले, से भिक्खू मायन्ने अन्नयरिं दिसं वा अणुदिसं वा पडिवन्ने धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए ।

व्याख्या—'सत्थाईयं' शस्त्रमग्न्यादिकं, तेनातीतं–प्रासुकीकृतं, शस्त्रपरिणामितमिति–शस्त्रेण स्वकायपरकायादिना

× आदिशब्दः प्रकारार्थत्वाद् दुहितृस्नुषाधात्र्याद्यर्थम् । + "पहेणयं–भोजनोपायनमुत्सवश्चे"ति देशीनाममालावृत्तौ ।

निर्जीवीकृतं, वर्णगन्धरसादिभिश्च परिणामितं, हिंसां प्राप्तं हिंसितं, विरूपं हिंसितं विहिंसितं, न सम्यक्निर्जीवीकृतमित्यर्थः, तत्प्रतिषेधादविहिंसितं निर्जीवमित्यर्थः। तदप्येषणीयम्-एषितं गवेषणादिभिर्विशुद्धं नाऽपि 'वेसियं' वैषिकमिति केवलसाधुवेषावाप्तं+, तदपि 'सामुदानिकं' मधुकरवृत्त्याऽवाप्तं-सर्वत्र स्तोकं स्तोकं गृहीतं, तदपि गीतार्थेनोपानीतं तदपि-वेदनावैयावृत्त्यादिके कारणे सति, तदपि प्रमाणयुक्तं, नाऽतिमात्रं, तदपि न वर्णबलाद्यर्थं किन्तु यावन्मात्रेणाऽऽहारेण देहः क्रियासु वर्त्तते, यथाऽक्षस्योपाञ्जनं अभ्यङ्गो व्रणस्य 'लेवणं' प्र[व्रण]लेपस्तदुपमया आहारमाहरेत्। उक्तं च—

"अब्भंगेण व सगडं, न तरइ विगइं विणा उ जो साहू। सो रागदोसरहिओ, मत्ताए विहीइ तं सेवे ॥१॥×"

एतदेव दर्शयति-संयमयात्रार्थां मात्रा संयमयात्रा[मात्रा], यावत्याऽऽहारमात्रया संयमयात्रा प्रवर्त्तते। तथा बिलप्रवेशपन्नगभूतेनात्मना आहारमाहरेत्, यथा पन्नगो बिले प्रविशंस्तूर्णमेव प्रविशति एवं साधुनाप्याहारस्तत्स्वादमनास्वादयता शीघ्रं प्रवेशयितव्य इति। तदपि 'अन्नं अन्नकाले' सूत्रार्थपौरुष्युत्तरका[लं]ले (?) भिक्षाकाले प्राप्ते, तथा पानकं पानककाले* तथा वस्त्रं वस्त्रकाले गृह्णीया-दुपभोगं वा कुर्यात्। तथा 'लयनं' गुहादिकमाश्रयस्तस्य वर्षास्ववश्यमुपादानमन्यदा त्वनियमः। तथा शय्यासंस्तारकः, स च शयनकाले। तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वयं निद्राविमोक्षो गीतार्थानान्तु

+ "न पुनर्जात्याद्याजीवनतो निमित्तादिना वोत्पादित"मिति बृहद्वृत्तौ।

× अभ्यङ्गेनेव शकटं न शक्नोति विकृतिं विनैव यः साधुः। स रागद्वेषरहितो मात्रया विधिना तां सेवेत ॥ १ ॥

* "न तृषितो भुञ्जीत न बुभुक्षितः पानकं पिबेत्।" इति बृ०।

प्रहरमेकमिति। तथा स भिक्षुराहारोपधिशयनस्वाध्यायाध्ययनादीनां मात्रां जानातीति तद्विधिज्ञः, अन्यतरां दिशमनुदिशं वा 'प्रतिपन्नः' समाश्रितो धर्ममाख्यापयेत्–प्रतिपादयेत्, यथेन [साधुना गृहस्थेन वा] विधेयं तद्यथायोगं विभजेत् धर्मफलानि च कीर्तयेत्। परहितार्थं प्रवृत्तेन साधुना सम्यगुपस्थितेषु वा [अनुपस्थितेषु] कौतुकादिप्रवृत्तेषु 'शुश्रूषमाणेषु' श्रोतुं प्रवृत्तेषु स्वपरहिताय 'प्रवेदयेत्' कथयेत्। यत्कथयेत्तद्दर्शयितुमाह—

संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं, सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूताणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं।

व्याख्या—शान्ति–रुपशमः क्रोधजयः 'विरतिः' प्राणातिपातादिभ्यः शान्तिविरतिस्तां कथयेत। तथोपशमं इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमरूपं रागद्वेषाभावजनितं, तथा निर्वृतिं निर्वाणं, तथा 'शौचं' तदपि भावशौचं सर्वोपाधिविशुद्धं व्रताऽमालिन्यं 'अज्जवियं' आर्जवं मायारहितत्वं, तथा 'मार्दवं' मृदुभावः अकठोरत्वं सर्वत्र प्रश्रयत्वं विनयनम्रता, तथा 'लाघवियं' कर्मणां लाघवापादनं। साम्प्रतं सर्वशुभानुष्ठानानां मूलकारणमाह 'अतिपातः' प्राण्युपमर्दनं, तत्प्रतिषेधादनतिपातिकत्वं सर्वेषां प्राणिनां भूतानां यावत् सत्त्वानां धर्ममनुविचिन्त्य कथयेत्, सर्वप्राणिनां रक्षानिमित्तभूतं धर्मं कथयेत्।

से भिक्खू धम्मं किट्टेमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, नो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा,

नो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, नो लेणस्स हेउं [धम्ममाइक्खेज्जा,] नो सयणस्स हेउं [धम्ममाइक्खेज्जा,] नो अन्नेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा, नन्नत्थ कम्मनिज्जरट्ठयाए धम्ममाइक्खेज्जा।

व्याख्या—स भिक्षुरन्नस्य हेतोर्ममायमीश्वरो धर्मकथाश्रवणेन विशिष्टाहारजातं दास्यतीत्येतन्निमित्तं न धर्ममाचक्षीत। तथा पानस्य वस्त्रलयनशयननिमित्तं न धर्ममाचक्षीत। अन्येषां वा 'विरूपरूपाणां' उच्चावचानां कार्याणां कामभोगानां वा निमित्तं न धर्ममाचक्षीत। तथा ग्लानिमनुपगच्छन् धर्ममाचक्षीत। कर्मनिर्जरायाश्चान्यत्र न धर्मं कथयेत्, अपरप्रयोजननिरपेक्ष एव धर्मं कथयेदिति। अथ धर्मकथनफलमुपदर्शयति—

इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिया ते एवं सव्वोवगता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताई, परिनिव्वुडेत्ति बेमि।

व्याख्या—इह खलु जगति तस्य भिक्षोर्गुणवतोऽन्तिके–समीपे धर्मं श्रुत्वा [निशम्य च] सम्यगुत्थानेनोत्थाय 'वीराः' कर्मविदारणसहिष्णवो ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये मोक्षमार्गे प्राप्ताः सर्वपापस्थानेभ्यो निवृत्ताः सर्वत उपशान्ताः जितकषायतया

शीतलीभूताः, तथा त एवं 'सर्वात्मतया' सर्वसामर्थ्येन सदनुष्ठाने उद्यमं कृतवन्तो, ये चैवम्भूतास्ते अशेषकर्मक्षयं कृत्वा परिनिर्वृत्ताः, अशेषकर्मक्षयं कृतवन्त इति। ब्रवीमीति पूर्ववत्। अथाध्ययनोपसंहारार्थमाह—

एवं, से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविऊ नियागपडिवन्ने, से जहेयं बुइयं अदुवा पत्ते पउमवरपुंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवरपुंडरीयं। एवं से भिक्खू परिन्नायकम्मे परिन्नायसंगे परिन्नायगिहवासे उवसंते समिए सहिये सया जए, से एवं वयणिज्जे, तं जहा—

व्याख्या—एवं स भिक्षुर्धर्मार्थी यथावस्थितं परमा[र्थतो]र्थं(?) धर्म्मं सर्वोपाधिविशुद्धं जानातीति धर्मवित्, तथा 'नियागः' संयमो विमोक्षो वा, तं प्रतिपन्नः-नियागप्रतिपन्नः, स चैवम्भूतः पञ्चमपुरुषजातः, तं चाऽऽश्रित्य तद्यथेदं प्राक् प्रदर्शितं, तत्सर्वमुक्तं, स च प्राप्तो वा स्यात् पद्मवरपौण्डरीकमनुप्राप्तं पुरुषविशेषं चक्रवर्त्यादिकं, तत्प्राप्तिश्च परमार्थतः केवलज्ञानावाप्तौ सत्यां भवति, साक्षाद्यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छित्तेः, अप्राप्तो वा स्यान्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा समन्वितः। स चैवम्भूतो भिक्षुः परिज्ञातकर्मा(दिविशेषणविशिष्टो भवतीत्येतद्दर्शयितुमाह—) स चैवम्भूतो भिक्षुः 'परिज्ञातकर्मा' परिज्ञातकर्मस्वरूपः, परिज्ञातसङ्गः, परिज्ञातगृहवासः, तथोपशान्तः, [इन्द्रियनो]-इन्द्रियोपशमात्तथा समितिभिः समितः, तथा सहितो ज्ञानादिभिः 'सदा यतः' संयतः, एवंविधगुणकलापोपेत एतद्वचनीयः-स ईदृशः कथ्यते, (तद्यथा-)

समणेति वा माहणेति वा खंतेति वा दंतेति वा गुत्तेति वा मुत्तेति वा इसीति वा मुणीति वा कतीति वा विदूति वा भिक्खूति वा लूहेति वा तीरट्ठेति वा चरणकरणपारविउत्ति बेमि [सूत्र १५]। बितियस्स [सुय]क्खंधस्स पोंडरीयं नाम पढमं अज्झयणं समत्तं ।

व्याख्या—स पूर्वोक्तगुणकलापोपेतः किंनामा कथ्यते ? श्रमणः तथा 'माहण 'त्ति ब्राह्मणः, मा प्राणिनो व्यापादयेति माहनः ब्रह्मचारी वा ब्राह्मणः, क्षान्तः क्षमोपेतत्वात्, दान्तः इन्द्रिय[नोइन्द्रिय]दमनात्, तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः, मुक्त इव मुक्तः, विशिष्टतपश्चरणो महर्षिः, मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, कृतमस्यास्तीति 'कृती' पुण्यवान् परमार्थपण्डितो वा, तथा 'विद्वान्' सवि[सद्वि]द्योपेतः, तथा 'भिक्षु 'र्निरवद्याहारतया भिक्षणशीलः, तथा अन्तप्रान्ताहारत्वेन रूक्षः, संसारतीरभूतो मोक्षस्तदर्थी, तथा चर्यत इति चरणं-मूलगुणाः, क्रियत इति करणं—उत्तरगुणास्तेषां 'पारं 'तीरं पर्यन्तगमनं, तद्वेत्तीति करणचरणपारवित्। इतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति तीर्थकरवचनात् सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैवं भणतीति।

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिवरसन्दृब्धायां
श्रीमत्सूत्रकृताङ्गदीपिकायां समाप्तं द्वितीयश्रुतस्कन्धाध्ययनं प्रथमम् ॥

॥ अथ क्रियास्थानाख्यं द्वितीयमध्ययनम् ॥

साम्प्रतं द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयं क्रियाऽध्ययनं प्रारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः—इहानन्तराध्ययने पुष्करिणी-पुण्ड-रीकदृष्टान्तेन तीर्थिकाः सम्यङ्मोक्षोपायाभावात्कर्मणां बन्धकाः प्रतिपादिताः सत्साधवश्च सम्यग्दर्शनादिमोक्षमार्गप्रवृत्त-त्वात् कर्मणां मोचकाः सदुपदेशदानतो परेषामपीति, तदिहापि यथा कर्म्म द्वादशभिः क्रियास्थानैर्बध्यते यथा च त्रयोदशेन मुच्यते तदेतत्प्रतिपाद्यतमेव बन्धमोक्षयोः प्रतिपादनं क्रियते, तथाहि—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु किरियाठाणे नामं अज्झयणे पन्नत्ते, तस्स णं अयमट्ठे (पन्नत्ते-) इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणा एवमाहिज्जंति—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव।

व्याख्या।—सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह—श्रुतं मया आयुष्मता भगवतैवमाख्यातं—इह खलु क्रियास्थानं नामाध्ययनं भवति, तस्य चायमर्थः इह खलु 'संजूहेणं' ति सामान्येन संक्षेपेण च द्वे स्थाने भवतः। य एते क्रियावन्त-स्ते सर्वेऽप्यनयोः स्थानयोरेवमाख्यायन्ते—धर्मे चैव अधर्मे चैव, इदमुक्तं भवति—धर्मस्थानमधर्मस्थानं च। कारणशुद्ध्या च कार्यशुद्धिर्भवतीत्याह—उपशान्तं यत्तद्धर्मस्थानं अनुपशान्तमधर्मस्थानं। लोकस्तु प्रायेणाधर्म्मप्रवृत्तो भवति, पश्चात्स-

दुपदेशयोग्याचार्यसंसर्गाद्धर्मस्थाने प्रवर्त्तते, अतः पूर्वमधर्मस्थानमधिकृत्याह—

तत्थ णं [जे से] पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे, तस्स णं अयमट्ठे [पण्णत्ते]— इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, [तं जहा]—

व्याख्या—तत्र प्रथमस्य अधर्मपक्षस्य 'विभंगो' विचारस्तस्यायमर्थ इति। 'इह खलु' इह अस्मिञ्जगति 'खलु' निश्चितं प्राच्यादिदिक्षु मध्ये अन्यतरस्यां दिशि 'सन्ति' विद्यन्ते एके केचन मनुष्यास्ते चैवम्भूता भवन्तीत्याह—

+आयरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवन्ना वेगे दुव्वन्ना वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं इमं एयारूवं दंडसमादाणं संपेहाए। तं जहा—नेरईएसु [वा]× तिरिक्खजोणीएसु माणुसेसु देवेसु जेयावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्न[विन्नू] वेयणं वेयंति, तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीतिमक्खायं, तं जहा—अट्ठादंडे १,

---

+ सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिषु 'आयरिया' इति पाठो लेखकप्रमादजः सम्भाव्यते, मुद्रितासु सवृत्तिकप्रतिषु 'आरिया' इत्येवोपलभ्यते, योऽर्थदृष्ट्या युक्त आभाति। × मुद्रितासु सवृत्तिकप्रतिष्वेते चत्वारोऽपि पदा 'वा' शब्दान्ताः सन्ति, परं दीपिका-प्रतिषु यन्नैवं एषोऽपि लेखकदोष एव सम्भाव्यते।

अणट्ठादंडे २, हिंसादंडे ३, अकम्हादंडे ४, दिट्ठीविपरियासियादंडे ५, मोसवत्तिए ६, अदिन्नादाणवत्तिए ७, * अज्झत्थिए ८, माणवत्तिए ९, मित्तदोसवत्तिए १०, मायावत्तिए ११, लोभवत्तिए १२, इरियावहिए १३। [सू० १]

व्याख्या—एके आर्य्या एके अनार्य्याः भवन्ति, यावद्दूरूपाः सुरूपाश्चेति। तेषामार्य्यादीनामिदं–वक्ष्यमाणमेतद्रूपं 'दण्डः' पापोपादानसङ्कल्पस्तस्य 'समादानं' ग्रहणं 'संपेहाए' त्ति सम्प्रेक्ष्य, तच्चतुर्गतिकानामन्यतमस्य भवति, तद्यथा–नारकादिषु, ये चान्ये तथाप्रकारास्तद्भेदवर्त्तिनः सुवर्णदुर्वर्णादयः प्राणिनो विद्वाँसो 'वेदना' ज्ञानं, तद्वेदयन्त्यनुभवन्ति, यदिवा सातासातरूपां वेदनामनुभवन्तीति, अत्र चत्वारो भङ्गास्तद्यथा–संज्ञिनो वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च १, सिद्धास्तु विदन्ति नानुभवन्ति २, असंज्ञिनोऽनुभवन्ति न विदन्ति ३, अजीवास्तु न विदन्ति नानुभवन्ति ४। इह पुनः प्रथमतृतीयाभ्यामधिकारो, द्वितीयचतुर्थाववस्तुभूताविति। 'तेषां च' नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवानां तथाविधज्ञानवतां 'इमानि' वक्ष्यमाणलक्षणानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्ति, एवमाख्यातं तीर्थकरगणधरादिभिरिति। कानि? पुन-

---

* यद्यपि सटीकमुद्रितप्रतिष्वत्र परत्र च सर्वत्रापि 'अज्झत्थवत्तिए' इत्येकरूप एव पाठोऽस्ति, परं दीपिकाप्रतिषु समग्रास्वप्यत्र 'अज्झत्थिए' इत्येवमुपलभ्यते, वृत्तिकृताऽपि 'आत्मन्यध्यध्यात्मं–तत्र भव आध्यात्मिकः' इत्येवमर्थो विहित अतो दीपिकापाठः युक्त इत्याभाति।

स्तानीति दर्शयति–' तं जहे'त्यादि, तद्यथा–' आत्मार्थाय' स्वप्रयोजनकृते दण्डो–ऽर्थदण्डः–पापोपादानं १, तथाऽनर्थदण्ड इति निष्प्रयोजनमेव सावद्यक्रियाऽनुष्ठानमनर्थदण्डः २, तथा हिंसा–प्राण्युपमर्दरूपा, तया–दण्डो हिंसादण्डः ३, तथा-ऽकस्माद्दण्डः (?) अनुपयुक्तस्य [दण्डः] अकस्माद्दण्डः, अन्यस्य क्रिययाऽन्यस्य व्यापादनम् ४। तथा दृष्टेर्विपर्यासो रज्ज्वामिव सर्पबुद्धिः, तया दण्डो दृष्टिविपर्यासदण्डस्तद्यथा–लेष्टुकाष्ठादिबुद्ध्या शराद्यभिघातेन चटकादिव्यापादनम् ५, तथा मृषावादप्रत्ययिकः, स च सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणरूपः ६, तथा अदत्तस्य परकीयस्य ग्रहणं स्तैन्यं, तत्प्रत्ययिको दण्डः ७, तथाऽध्यात्मदण्डो–निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन दूयमानश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते ८, तथा जात्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः पराबहेलारूपस्तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति ९, तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोषस्तत्प्रत्ययिको[दण्डो] भवति १०, तथा ' माया ' परवञ्चनबुद्धिस्तया दण्डो माया[प्रत्ययिको] दण्डः ११, तथा लोभप्रत्ययिको–लोभनिमित्तो दण्ड इति १२, तथा पञ्चसमितित्रिगुप्तिभिरुपयुक्तस्येर्याप्रत्ययिकः सामान्येन कर्मबन्धो भवति १३, एतच्च त्रयोदशं क्रियास्थानमिति। अथानुक्रमेण क्रियास्थानानि व्याख्यानयति—

पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ, (+ तं जहा–) से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूयहेउं वा

+ नास्ति बहुष्वादर्शेष्वयं पाठस्त्रयोदशस्वपि क्रियास्थानसूत्रेषु।

जक्खहेउं वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव निसिरति अण्णेण[वि]निसिरावेति अन्नं पि निसिरंतं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए आहिए ॥ [सू० २]

व्याख्या—यत्प्रथममुपात्तं दण्डसमादानमर्थाय दण्ड इत्येवमाख्यायते। तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः, पुरुषग्रहणेन सर्वोऽपि चातुर्गतिकः प्राणी, आत्मनिमित्तं ज्ञातिनिमित्तं तथा गृहनिमित्तं परिवारो–दासीकर्मकरादिकस्तन्निमित्तं, तथा मित्रनागभूतयक्षनिमित्तं तथाभूतं स्वपरोपघातहेतुं दण्डं त्रसस्थावरेषु प्राणेषु स्वयमेव 'निसृजति' निक्षिपति–उपतापयति प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोति, तथाऽन्येन कारयति, तथा परं दण्डं निसृजन्तं समनुजानीते। एवं कृतकारितानुमतिभिः कर्मसम्बन्धो भवति, तदर्थदण्डप्रत्ययिकं प्रथमं क्रियास्थानमाख्यातमिति ।

अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति । तं जहा–से जहा नामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए, एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठीए अट्ठिमंजाए णो हिंसिंसु मेत्ति णो हिंसंति मेत्ति णो हिंसिस्संति मेत्ति, णो

पुत्तपोसणयाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपरिवूहणताए नो समणमाहणवत्तणाहेउं नो तस्स सरीरस्स किंचि विप्परियादित्ता भवंति । से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति अणट्ठादंडे ।

व्याख्या—अथापरं द्वितीयं [दण्डसमादानं] अनर्थदण्डप्रत्ययिकं अभिधीयते । स यथा नाम कश्चित्पुरुषः + ये केचन 'अमी' संसारान्तर्वर्तिनः प्रत्यक्षाश्छागादयः प्राणिनस्तांश्चासौ हनन् 'नो' नैव अर्चायै हिनस्ति, तथा नो 'अजिनाय' चर्मणे, नापि मांसशोणितहृदयपित्तवसापिच्छपुच्छवालशृङ्गविषाणनखदन्तादंष्ट्र[स्थ्य]स्थिमिज्जा इत्येवमादिकं कारणमुद्दिश्य, नैवाहिंसिषुर्नापि हिंसन्ति नापि हिंसयिष्यन्ति मां मदीयं चेति । तथा नो पुत्रपोषणाय–पुत्रं पोषयिष्यामीत्येतदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशूनां पोषणाय, तथा 'अगारं' गृहं, ×न तदर्थं हिनस्ति, तथा न श्रमणब्राह्मणवर्तनाहेतुं, तथा यत्तेन पालयितुमारब्धं नो तस्य शरीरस्य किमपि परित्राणाय तत्प्राणिव्यपरोपणं भवति, इत्येवमादिकं कारणमनादृत्यैवासौ क्रीडया व्यसनेन वा प्राणिनां हन्ता भवति दण्डादिभिः, छेत्ता भवति कर्णनासिकादिविकर्तनतः, तथा भेत्ता–शूलादिना तथा लुम्पयिताऽन्यतराङ्गावयवविकर्तनतस्तथा विलुम्पयिता चक्षूत्पाटनचर्मविकर्तनकरपादादिच्छेदनतः परमाधार्मिकवत्प्राणिनां

+ " निर्निमित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति, तदेव दर्शयितुमाह–" इति सू० मु० । × " तस्य 'परिवृंहणा' वृद्धिः " इति हर्ष० ।

निर्निमित्तमेव नानाविधोपायैः पीडोत्पादको भवति, तथा जीविताद्प्यपद्रावयिता भवति। स च+ बालोऽसमीक्षितकारितया जन्मान्तरानुबन्धिवैरस्याभागी भवति। तदेवं निर्निमित्तमेव पञ्चेन्द्रियप्राणिपीडनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति तथा प्रतिपादितं, अधुना स्थावरानधिकृत्योच्यते—

से जहा नामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा—इक्कडाइ वा कडि(कढि)णाइ वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्छगाइ वा पप्प[पव्व]गाइ वा पलालएइ वा, ते णो पुत्तपोसणयाए नो पसुपोसणयाए नो अगारपरिवूहणयाए नो समणमाहण-पोसणयाए नो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियाइत्ता भवति। से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति अणट्ठादंडे।

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित्पुरुषो निर्विवेकः प[थि]रि(?)गच्छन् [निर्निमित्तमेव] वृक्षादेः पल्लवादिकं दण्डादिना प्रध्वंसयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीलतया व्रजति, एतदेव दर्शयति—ये केचनामी-प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिकायिकाः प्राणिनो भवन्ति तद्यथा-'इक्कडा'दयो वनस्पतिविशेषाः सुगमार्थाः। तदिहैयमिक्कडा, ममानया प्रयोजनमित्येवमभि[सं]धाय न

+ "सद्विवेकमुज्झित्वाऽऽत्मानं वा परित्यज्य बालवद्बाल"इति शू० वृत्तौ।

छिनत्ति, केवलं तत्पत्रपुष्पफलादिनिरपेक्षस्तच्छीलतयेत्येतत्सर्वत्रानुयोजनीयमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, न पशुपोषणाय, नागारकार्थाय, न श्रमणब्राह्मणप्रवृत्तये, नापि शरीरस्य किञ्चित्परित्राणं भविष्यतीति, केवलमेवमेवासौ वनस्पतिं हन्ता छेत्तेत्यादि यावज्जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्याभागी भवति । अयं वनस्पत्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽभिहितः, साम्प्रतमग्न्याश्रितमाह—

से जहा नामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा नूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय २ सयमेव अगणिकायं निसिरति अण्णेहिं अगणिकायं निसिरावेति अन्नं पि जाव समणुजाणति अणट्ठादंडे, एवं खलु तस्स पुरिसस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति । दोच्चे दंड-समादाणे अणट्ठादंडवत्तिएत्ति आहिए [सू० ३] ॥

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित् पुरुषो, निर्विवेकतया* कच्छादिषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गपर्यन्तेषु 'तृणानि' कुशई-

---

* " कच्छे-नदीजलवेष्टिते वृक्षादिमति प्रदेशे, ह्रदे-प्रतीते, उदके-जलाशयमात्रे, द्रविके-तृणादिद्रव्यसमुदाये, वलये-वृत्ताकार-नद्यादिजलकुटिलगतियुक्तप्रदेशे, नूमे-अवतमसे गहने वृक्षवल्लीसमुदाये, गहनेऽपि दुर्गे-पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्लीसमुदाये, वनविदुर्गे-नानाविधवृक्षसमूहे, एतेषु " इति हर्ष० ।

षिकादीनि पौनःपुन्येनोर्ध्वाधःस्थानि कृत्वाऽग्निकायं ' निसृजति ' प्रक्षिपत्यन्येन वा निसर्जयति प्रक्षिपयत्यन्यं च निसृजन्तं समनुजानीते । तदेवं योगत्रिकेण तस्य यत्किञ्चनकारिणस्तत्प्रत्ययिकं-दवदाननिमित्तं ' सावद्यं कर्म ' महापातकमाख्यातम् । एतच्च द्वितीयमनर्थदण्डसमादानमाख्यातमिति तृतीयमधुना व्याख्याति—

अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिएत्ति आहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे ममं वा ममिं वा, अन्नं वा अन्निं वा, हिंसिंसु वा हिंसंति वा हिंसिस्संति वा, तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव निसिरति जाव अन्नंपि समणुजाणति हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति । तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिएत्ति आहिते [सू० ४] ॥

व्याख्या—' अहावरे ' इति, अथापरं तृतीयं दण्डसमादानं हिंसादण्डप्रत्ययिकमाख्यायते—स यथा नाम कश्चित् 'पुरुषः' पुरुषाकारं वहन्, स्वतो मरणभीरुतया वा ममायं घातयिष्यतीत्येवं मत्वा कंसवद्देवकीसुतान् भावतो जघान, मदीयं वा पितरमन्यं वा ' मामकं ' ममीकारोपेतं परशुरामवत् कार्त्तवीर्यं जघान, अन्यं वा कञ्चनायं सर्पसिंहादिर्व्यापादयिष्यतीति मत्वा सर्पादिकं व्यापादयति, अन्यदीयस्य वा कस्यचिद्धिरण्यपश्वादेरयमुपद्रवकारीति कृत्वा तत्र दण्डं निसृजतीति । तदेवमयं मां मदीयमन्यमन्यदीयं वा हिंसितवान् हिनस्ति हिंसिष्यतीत्येवं सम्भाविते त्रसे स्थावरे वा ' तद्दण्डं ' प्राणव्यपरोपणलक्षणं स्वयमेव निसृजति अन्येन निसर्जयति निसृजन्तं वाऽन्यं समनुजानीते, इत्येतत्तृतीयं दण्डसमादानं हिंसा-

दण्ड प्रत्ययिकमाख्यातमिति ।

अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हा[अकस्मात्*]दंडवत्तिए[त्ति] आहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता, एए मिएत्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, से मियं वहिस्सामीति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा[चडगं वा]लावगं वा कवोतगं वा कविं वा कविंजलं वा विंधेत्ता भवति । इह खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्हादंडे ।

व्याख्या—अथाऽपरं चतुर्थं दण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यायते—तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषो लुब्धकादिकः कच्छे वा यावद्वनदुर्गे वा गत्वा 'मृगै'रारण्यपशुभिर्वा वृत्तिर्यस्य स मृगवृत्तिकः, स चैवम्भूतस्तथा मृगसङ्कल्पः, मृगप्रणिधानः–क्व मृगान् द्रक्ष्यामीत्येतदध्यवसायी सन् मृगवधार्थं कच्छादिषु गन्ता भवति, तत्र च गतः सन् दृष्ट्वा [मृगानेते] मृगा इत्येवं कृत्वा तेषां मध्ये अन्यतरस्य मृगस्य वधार्थं 'इषुं' शरं आयामेन समाकृष्य मृगमुद्दिश्य निसृजति । स चैवं

---

* "इह चाकस्मादित्ययं शब्दो मगधदेशे सर्वेणाप्याबालगोपालाङ्गनादिना संस्कृत एवोच्चार्यत इति तदिहापि तथाभूत एवोच्चरित इति" सू० वृत्तौ ।

सङ्कल्पो भवति—यथाऽहं मृगं हनिष्यामि, इत्यमुं निक्षिप्तवान्, स च तेन इषुणा तित्तिरादिपक्षिविशेषं व्यापादयिता भवति, तदेवं खल्वसावन्यस्यार्थाय निक्षिप्तो दण्डो यदन्यं 'स्पृशति' घातयति सोऽकस्माद्दण्ड इत्युच्यते। अधुना वनस्पतिमुद्दिश्याकस्माद्दण्डमाह—

से जहा नामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिति[णिलि]ज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं निसिरेज्जा, से सामगं तणगं मुकुंद[कुसुदु]गं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामित्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालगं वा छिंदित्ता भवति, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्हाद्दण्डे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति। चउत्थे दंडसमादाणे अकम्हादंडवत्तिएत्ति आहिते॥ [सु० ५]

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित्पुरुषः कृषीवलादिः शाल्यादेर्धान्यजातस्य श्यामादिकं तृणजातमपनयन् धान्यशुद्धिं कुर्वाणः सन्नन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं शस्त्रं दात्रादिकं निसृजेत्, स च श्यामादिकं तृणं छेत्स्यामीति कृत्वा अकस्माच्छालिं वा यावद्रालकं वा छिन्द्यात्, रक्षणीयस्यैव धान्यस्य अकस्माच्छेत्ता भवतीत्येवमन्यस्यार्थाय अन्यकृतेऽन्यं वा 'स्पृशति'

छिनत्ति, तदेवं खलु तत्कर्तुस्तत्प्रत्ययिक-मकस्माद्दण्डनिमित्तं 'सावद्यं' पापमाधीयते-सम्बध्यते, तच्चतुर्थं दण्डसमादान-मकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति ।

अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासिया दंडवत्तिए आहिज्जति। से जहा नामए केइ पुरिसे माईहिं वा पीईहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूयाहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमि[ति]व मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवति दिट्ठीविप्परियासियादंडे।

व्याख्या—अथाऽनन्तरं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिकमाख्यायते-तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषश्चारभटादिको मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यापुत्रपुत्रिकास्नुषादिभिः सार्द्धं [सं]वसंस्तिष्ठन् ज्ञातिपालनकृते मित्रमेव दृष्टिविपर्यासादमित्रोऽयमित्येवं मन्यमानो 'हन्यात्' व्यापादयेत्, तेन च दृष्टिविपर्यासवता मित्रमेव हतपूर्वं भवतीत्यतो दृष्टिविपर्यासदण्डोऽयम् । पुनरन्यथा तमेवाह—

से जहा नामए केइ पुरिसे गामघायंसि वा नगरघायंसि वा खेड० कब्बड० मडंबघायंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा × आसम० सन्निवेस० निगम० रायहाणीघायंसि वा अतेणं

× "संबाहघायंसि वा" इति हर्ष० । ग्रामादिलक्षणं चेदं—'ग्रामो वृत्त्या वृतः स्यान्नगरमुरुचतुर्गोपुरोद्भासिशोभं, खेटं

तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवति दिट्ठीविप्परियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति। पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडवत्तिएत्ति आहिए। [सू० ६]॥

व्याख्या—स यथा नाम कश्चित्पुरुषः पुरुषाकारमुद्वहन् ग्रामघातादिके विभ्रमे अन्यचेतसा दृष्टिविपर्यासादचौरमेव चौरोऽयमित्येवं मन्यमानो व्यापादयेत्, तदेवं तेन भ्रान्तमनसा विभ्रमाकुलेनाचौर एव हतपूर्वो भवति, सोऽयं दृष्टिविपर्यासदण्डस्तदेवं खलु 'तस्य' दृष्टिविपर्यासवतस्तत्प्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते। तदेवं पञ्चमं दण्डसमादानं दृष्टिविपर्यासप्रत्ययिकमाख्यायते*।

अहावरे छट्ठे मोसवत्तिए किरियाठाणे + आहिज्जति—से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा नाइहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति अन्नेणं मुसं वयावेति मुसं वयंतं

नद्यद्रिवेष्टं परिवृतमभितः कर्बटं पर्वतेन। ग्रामो वृक्षैः मडम्बद[? क]लितदशशतैः पत्तनं रत्नयोनि, द्रोणाख्यं सिन्धुवेला-वलयितमथ सम्बाधनं चाद्रिशृङ्गः ॥१॥' इति। आश्रमस्तापसस्थानं, सन्निवेशः—सार्थकटकादिवासः, निगमो—बहुवणिग्वासः, राजधानी—राजकुलस्थानम्।" इति हर्ष०।

* 'ख्यात इति' प्र०। 'ख्यातमिति' पु. वृ.।

+ मुद्रितासु सवृत्तिकप्रतिषु 'छट्ठे किरियट्ठाणे मोसावत्तिएत्ति' इत्येवमस्ति, तत्समीचीनं प्रतिभाति, दीपिकाकारेणाप्ययमेवक्रमेणैव कृतत्वात्। किञ्च—'किरियट्ठाणे मोसावत्तिए' इत्यत्र 'किरियाठाणे मोसवत्तिए' इति सम्यगाभाति।

अन्नं समणुजाणाति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए[त्ति] आहिते [सू० ७] ॥

व्याख्या—अथाऽपरं षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यायते, तत्र पूर्वोक्तानां पञ्चानां क्रियास्थानानां सत्यपि क्रियास्थानत्वे प्रायशः परोपघातो भवतीति कृत्वा दण्डसमादानसंज्ञा कृता, षष्ठादिषु च बाहुल्येन परव्यापादनं न भवतीति कृत्वा क्रियास्थानमित्येषा संज्ञोच्यते। स यथा नाम कश्चित् पुरुषः स्वपक्षावेशादाग्रही आत्मनिमित्तं यावत्परिवारनिमित्तं वा सद्भूतार्थनिन्हवरूपमसद्भूतोद्भावनरूपं वा स्वयमेव मृषावादं वदति, तद्यथा—नाहं मदीयो वा कश्चिच्चौरः, स च चौरमपि सद्भूतमप्यर्थमपलपति, तथा परमचौरं चौरमिति वदति, तथाऽन्येन मृषावादं भाणयति, तथाऽन्यांश्च मृषावादं वदतः समनुजानीते। तदेवं खलु तस्य योगत्रिककरणत्रिकेण मृषावादं वदतस्तत्प्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते—सम्बध्यते, तदेतत्षष्ठं क्रियास्थानं मृषावादप्रत्ययिकमाख्यातमिति।

अहावरे सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिए[त्ति] आहिज्जति—से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदियति अन्नेण वि अदिन्नं आदियावेति अदिन्नं आदियंतं अन्नं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति। सत्तमे किरियाठाणे आदिन्नादाणवत्तिएत्ति अहिते [सू० ८] ॥

व्याख्या—अथापरं सप्तमं क्रियास्थानमदत्तादानप्रत्ययिकमाख्यायते, एतदपि प्राग्वज्ज्ञेयम् । स यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं यावत्परिवारनिमित्तं [स्वयमेव] परद्रव्यमदत्तमेव गृह्णीयात् अपरं च ग्राहयेत् गृह्णन्तमप्यपरं समनुजानीयादित्येवं तस्यादत्तादानप्रत्ययिकं कर्म बध्यते । सप्तमं क्रियास्थानमाख्यातमिति ।

अहावरे अट्ठमे किरियट्ठाणे अज्झत्थवत्तिएत्ति आहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे णत्थि णं केति किंचि विसंवादेति, सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठीए झियाइ, तस्स णं अज्झत्थिया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तंजहा—कोहे माणे माया लोहे, अज्झत्थमेव कोहमाणमायालोहे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिएत्ति आहिए [सू० ९]॥

व्याख्या—अथापरमष्टमं क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवमाख्यायते, मानसिकमित्यर्थः । तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषश्चित्तोत्प्रेक्षाप्रधानस्तस्य च नास्ति कश्चिद्विसंवादयिता—न तस्य कश्चिद्विसंवादेन परिभवेन वाऽसद्भूतोद्भावनेन वा चित्तदुःखमुत्पादयति, तथाऽप्यसौ स्वयमेव वर्णापशदवद्धीनो दुर्गतवद्दीनो दुश्चित्ततया दुष्टो दुर्मनास्तथोपहतोऽस्वस्थतया

मनःसङ्कल्पो यस्य स तथा चिन्ताशोकसागर(सं)प्रविष्टः। तथा करतलपर्यस्तमुखः, तथाऽऽर्त्तध्यानोपगतो—निर्विवेकतया धर्म्मध्यानाद्दूरवर्ती [भूमिगतदृष्टिः] निर्निमित्तमेव द्वन्द्वोपहतवद्ध्यायति, तस्यैवं चिन्ताशोकसागरावगाढस्य सत 'आध्यात्मिकानि' अन्तःकरणोद्भवानि मनःसंश्रितान्यसंशयितानि वा—निःसंशयानि चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि भवन्ति, तानि चैवमाख्यायन्ते, तद्यथा—क्रोधस्थानं मानस्थानं मायास्थानं लोभस्थानमिति। ते च चत्वारोऽपि कषाया आध्यात्मिकाः, एभिरेव सद्भिर्दुष्टं मनो भवति, तदेवं तस्य दुर्मनसः क्रोधमानमायालोभवत एवमेवोपहतमनःसङ्कल्पस्य 'तत्प्रत्ययिकं' अध्यात्मनिमित्तं सावद्यं कर्म्म आधीयते—सम्बध्यते, तदेवमष्टममेतत् क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यमाख्यातमिति।

अहावरे नवमे किरियाठाणे माणवत्तिए[त्ति] आहिज्जति। से जहा नामए केइ पुरिसे जातिमएण वा कुलमएण वा बलमएण वा रूवमएण वा तवमएण वा सुयमएण वा लाभमएण वा ईसरियमएण वा पन्नामएण वा अन्नतरेण वा मदट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदति खिंसति गरहति परिभवति अवमन्नति, इत्तरिए अयं, अहंमंसि पुण विसिट्ठजाइकुलबलाइ-गुणोववेए, एवमप्पाणं समुक्कसे।

व्याख्या—अथापरं नवमं क्रियास्थानं मानप्रत्ययिकमाख्यायते। स यथा नाम कश्चित्पुरुषो जात्यादिगुणोपेतः सन् जातिकुलबलरूपतपःश्रुतलाभैश्वर्यप्रज्ञामदाख्यैरष्टभिर्मदस्थानैरन्यतरेण वा मत्तः परमवमबुद्ध्या हीलयति तथा निन्दति

जुगुप्सते गर्हति परिभवति, एतानि चैकार्थिकानि। यथा परिभवति तथा दर्शयति–'इतरोऽयं' जघन्यो हीनजातिकस्तथा मत्तः कुलबलरूपादिभिर्दूरमपभ्रष्टः सर्वजनावगीतोऽपाभाति×, अहं पुनर्विशिष्टजातिकुलबलादिगुणोपेतः, एवमात्मानं समुत्कर्षयेदिति+। साम्प्रतं मानोत्कर्षविपाकमाह—

देहा चुए कम्मबितिए अवसे पयाइ, तं जहा-गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं नरगाओ नरगं, चंडे थद्धे चवले माणी आवि भवाति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति। नवमे किरियाठाणे माणवत्तिए[त्ति] आहिते [सू० १०]॥

व्याख्या—'देहा चुए'त्ति, तदेवं जात्यादिमदोन्मत्तः सन्निहैव लोके गर्हितो भवति, *जातिमदः कस्यचिन्न कुलमदोऽपरस्य कुलमदो न जातिमदः, अपरस्योभयं, अपरस्यानुभयमिति, एवं [पदद्वयेन चत्वारो भङ्गाः] पदत्रयेणाष्टौ, चतुर्भिः षोडशेत्यादि यावदष्टभिः पदैः षट्पञ्चाशदधिकं शतद्वयमिति, सर्वत्र मदाभावरूपश्चरमभङ्गः शुद्ध इति। परलोकेऽपि च मानी दुःखभाग्भवतीत्यनेन प्रदर्श्यते। स्वायुषः क्षये देहाच्च्युतो भवान्तरं गच्छन् शुभाशुभकर्मद्वितीयः कर्म्मपरायत्तत्वादवशः–

× निन्दनीयः। + वक्ष्यमाणः 'तदेव' मित्यादितः 'शुद्ध' इति पर्यन्तः पाठोऽत्रत्य आभाति। 'परलोकेऽपी'ति वाक्यं च 'भवती'त्यस्याग्रे। इति टिप्पणं आगमोदयसमितिमुद्रितासु सवृत्तिकप्रतिषु। * "अत्र च जात्यादिपदद्वयादिसंयोगा द्रष्टव्याः, ते चैवं भवन्ति" इति वृत्तौ।

परतन्त्रः प्रयाति । त[य]थाहि (?) गर्भाद्गर्भं पञ्चेन्द्रियापेक्षं, तथा गर्भादगर्भं विकलेन्द्रियापेक्षं—विकले[न्द्रिये]षूत्पद्यमानः पुनरगर्भाद्गर्भं, एवमगर्भादगर्भं, एवञ्च नरकदुःखपर्मदुःखापेक्षया अभिहितम् । उत्पद्यमानदुःखाऽपेक्षया त्विदमभिधीयते—जन्मन एकस्मादपरजन्मान्तरं व्रजति, मरणान्मरणान्तरं व्रजति । नरकदेश्यात् श्वपाकादिवासाद्रत्नप्रभादिकं नरकान्तरं व्रजति, यदि वा नरकात्सीमन्तादिकादुद्वृत्य सिंहमत्स्यादावुत्पद्य पुनरपि तीव्रतरं नरकान्तरं व्रजति । तदेवं नटवद्रङ्गभूमौ संसारचक्रवाले स्त्रीपुंनपुंसकादीनि बहून्यवस्थान्तराण्यनुभवति । तदेवं मानी परपरिभवे सति 'चण्डो' रौद्रो भवति परस्यापकरोति, तदभावे ह्यात्मानं व्यापादयति । तथा स्तब्धश्चपलो यत्किञ्चनकारी, मानी सन् सर्वोऽप्येतदवस्थो भवति । तदेवं मानप्रत्ययिकं सावद्यं कर्म बद्ध्यते । नवमं [ए]तत्क्रियास्थानमाख्यातमिति ।

अहावरे दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिज्जति । से जहा नामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भाईहिं वा भइणीहिं वा भज्जाहिं वा धूयाहिं वा पुत्तेहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नयरेसिं वा [अन्नयरंसि] अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेति । तं जहा—सीओदगवियडंसि वा कायं उच्छोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं उसिंचित्ता भवति, अगणिकाएणं वा कायं उवडहित्ता भवइ, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा

तयाइ वा कसेण वा छियाए वा लयाए वा पासाइं उद्दालेत्ता भवइ, डंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति, तहप्पगारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति, पवसमाणे सुमणा भवंति, तहप्पगारे पुरिसजाए दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिए परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसियावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिएत्ति आहिते ॥ सू० । ११ ॥

व्याख्या—अथापरं दशमं क्रियास्थानं मित्रदोषप्रत्ययिकमाख्यायते—तद्यथा नाम कश्चित् पुरुषः प्रभुकल्पो माता-पितृसुहृत्स्वजनादिभिः सार्द्धं परिवसँस्तेषां च मातापित्रादीनामन्यतमेनाऽनाभोगतया यथाकथञ्चिल्लघुतरेऽप्यपराधे वाचिके दुर्वचनादिके तथा कायिके हस्तपादादिसङ्घट्टनरूपे कृते सति 'स्वयमेव' आत्मना क्रोधाध्मातो गुरुतरं दण्डं दुःखोत्पादकं 'निर्वर्तयति' करोति । तद्यथा—शीतोदके 'तस्य' अपराधकर्तुः कायमधो बोलयिता भवति, तथोष्णोदकविकटेन कायं सिञ्चयिता भवति, तत्र विकटग्रहणादुष्णतैलेन काँजिकादिना वा कायमुपतापयिता भवति, तथाऽग्निकायेनोल्मुकेन तप्तायसा वा कायं उप[दाहयिता]तापयिता वा (?) भवति, तथा जो[यो]त्रेण वा, वेत्रेण वा, [नेत्रेण वा] 'त्वचा वा' सनादिकया लतया वाऽन्यतमेन वा दवरकेण ताडनातः 'तस्य' अल्पापराधकर्तुः शरीरपार्श्वाणि 'उद्दालयितुं' चर्माणि कर्पयितुं (अस्तुतो) भवति, तथा दण्डादिना कायमुपताडयिता भवति, तदेवमल्पापराधिन्यपि महाक्रोधदण्डवर्ति तथा-

प्रकारे पुरुषजाते एकत्र वसति सति तत्सहवासिनो मातापित्रादयो दुर्मनसस्तदनिष्टाशङ्कया भवन्ति, तस्मिंश्च देशान्तरं गच्छति तत्सहवासिनः सुमनसो भवन्ति । तथाप्रकारश्च पुरुषजातोऽल्पेऽप्यपराधे महान्तं दण्डं कल्पयतीति, तदेव दर्शयति–दण्डपार्श्वी स्वल्पेऽप्यपराधे कुप्यति दण्डं च पातयति, दण्डेन गुरुको भवति, तथा दण्डपुरस्कृतः–सदा पुरस्कृतदण्ड इत्यर्थः । स चैवम्भूतः 'अस्मिँल्लोके' अस्मिञ्जन्मनि अहितः प्राणिनामहितदण्डापादनात्, तथा परस्मिन्नपि जन्मन्यसावहितः, येनकेनचिन्निमित्तेन क्षणे क्षणे सञ्ज्वलतीति सञ्ज्वलनः, स चात्यन्तक्रोधनो वधबन्धच्छविच्छेदनादिषु शीघ्रमेव क्रियासु प्रवर्त्तते, तदभावेऽप्युत्कटद्वेषतया मर्मोद्घट्टनतः पृष्ठिमांसमपि खादेदसौ ब्रुयाद्येनासौ परः सञ्ज्वलति, तदेवं तस्य महादण्डप्रवर्त्तयितुस्तद्दण्डप्रत्ययिकं सावद्यं कर्म्म बध्यते, तदेतद्दशमं क्रियास्थानं मित्रद्रोहप्रत्ययिकमाख्यातमिति× ।

अहावरे एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिएत्ति आहिज्जति, जे इमे भवंति गूढायारा तमोकासिया उलूगपत्तलहुया पव्वयगुरुआ, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ वि पउंजंति, अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा + अन्नं वागरेंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं

× "अन्ये पुनरष्टमं क्रियास्थानमात्मदोषप्रत्ययिकमाचक्षते, नवमं तु परदोषप्रत्ययिकं, दशमं पुनः प्राणवृत्तिकमिति" हर्षकुलः ।

+ यद्यपि दीपिकाप्रतिषु सर्वास्वपि 'अन्नं पुण कुणंति अन्नं०' इत्येवंरूपः पाठोऽस्ति मूले, परं सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु 'अन्नं पुट्ठा अन्नं०' इत्येवम्भूतोऽस्ति, अर्थो दीपिकायामप्येवंविध एव विहित इत्ययमेव मूले निवेशितः ।

आइक्खंति ।

व्याख्या—अथापरं एकादशं [मायाप्रत्ययिकं] क्रियास्थानमाख्यायते-ये केचनामी भवन्ति पुरुषाः गूढाचाराः गलकर्तकग्रन्थिच्छेदादयस्ते च नानाविधैरुपायैर्विश्रम्भमुत्पाद्य पश्चादपकुर्वन्ति, प्रद्योतादेरभयकुमारादिवत्, ते च मायाशील-त्वेनाप्रकाशचारिणः । तमःकाषिणः-पराविज्ञाताः क्रियाः कुर्वन्ति, ते च स्वचेष्टयैव ' उलूकपत्रलघवः ' कौशिकप[क्ष]-वल्लघीयांसोऽपि पर्वतवद्गुरुमात्मानं मन्यन्ते, यदिवाऽकार्यप्रवृत्तेः पर्वतवत्रो स्तम्भयितुं शक्यन्ते, ते चार्यदेशोत्पन्नाः सन्तः धूर्तप्राया आत्मप्रच्छादनार्थमपरभयोत्पादनार्थं वा अनार्यभाषाः प्रयुञ्जन्ते, परव्यामोहार्थं स्वमतिपरिकल्पितभाषाभिरपराविदिताभिर्भाषन्ते, तथाऽन्यथा वा व्यवस्थितमात्मानमन्यथा-साध्वाकारेण मन्यन्ते व्यवस्थापयन्ति च, तथाऽन्यत्पृष्टा मातृस्थानतोऽन्यदाचक्षते, यथाऽऽम्रान् पृष्टाः कोविदारकान्+ आचक्षते, वादकाले वा कश्चिदुपायवादितया व्याकरणे [दृष्टे] प्रवीण [प्रवणं] स्त(?)र्कमार्गमवतारयति, तथाऽन्यस्मिन्नार्थे कथयितव्येऽन्यमेवार्थमाचक्षते । तेषां च सर्वार्थविसंवादिनां कपटप्रपञ्चचतुराणां विपाकोद्भावनाय दृष्टान्तं दर्शयितुमाह—

से जहा नामए केइ पुरिसे अंतोसल्ले, तं सल्लं नो सयं णीहराति नो अन्नेणं णीहरावेइ नो पडिविद्धंसेति, एवमेव निण्हवेइ, अविउट्टमाणे अंतो अंतो झि[रि]याति, एवमेव माई मायं कट्टु णो

+ ' कोविदारो—युगपत्रः ' इति हैमवनस्पतिः ' कचनार ' इति लोके ।

आलोएति नो पडिक्कमति नो निंदइ नो गरिहइ नो विउट्टति नो विसोहेइ नो अकरणयाए अब्भुट्ठेइ नो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जति, माई अस्सिं लोए पच्चायाति माई परंसि लोए [पुणो पुणो] पच्चायाति। निंदइ गरिहइ पसंसइ णिच्चरति, णो नियट्टति णिसिरियं दंडं छाएति मायी असमाहडसुहलेस्से आवि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति। एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिए ॥ सूत्र १२ ॥

व्याख्या—'से जहे'त्यादि, तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः संग्रामादपक्रान्तोऽन्तःसशल्यः, शल्यपङ्कनवेदनाभीरुतया तच्छल्यं न स्वतो निर्हरति—अपनयति नोद्धरति, नाप्यन्येनोद्धारयति नापि तच्छल्यं वैद्योपदेशेनौषधोपचारयोगादिभिरुपायैः प्रध्वंसयति, अन्येन केनचित्पृष्टोऽपृष्टो वा तच्छल्यं 'एवमेव' निष्प्रयोजनमेव निह्नुते—अपलपति, तेन च शल्येनासावन्तर्वर्तिना 'अविउट्टमाणे'त्ति पीड्यमानः 'अन्तो अन्तो' मध्ये मध्ये पीड्यमानोऽपि 'रीयते' व्रजति, तत्कृतां वेदनामधिसहमानः क्रियासु प्रवर्तते। साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकमाह—'एवमेवे'त्यादि, यथाऽसौ सशल्यो दुःखभाग् भवत्येवमेवासौ 'मायी' मायाशल्यवान् यत्कृतमकार्यं तन्मायया निगूहयन्मायां कृत्वा न तां मायामन्यस्मै 'आलोचयति' कथयति नापि तस्मात् स्थानात् प्रतिक्रामति—न ततो निवर्तते, नाप्यात्मसाक्षिकं तन्मायाशल्यं निन्दति, तद्यथा—धिङ्मां ! यदहमेवम्भूतमकार्यं कर्मोदयात्कृतवान्। नापि परसाक्षिकं 'गर्हति' आलोचयति नापि च जुगुप्सते तथा

'नो विउट्टइ' इति नापि तन्मायाशल्यं विशोटयति, अपुनःकरणतया न निवर्त्तयतीत्यर्थः । +[नापि तन्मायाऽऽदिकमकार्यं सेवित्वाऽऽलोचनाऽर्हायाऽऽत्मानं निवेद्य तदकार्याकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठते, प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यापि नोद्युक्तविहारी भवतीत्यर्थः । तथा नापि गुर्वादिभिरभिधीयमानोऽपि यथाऽर्हमकार्यनिर्वहणयोग्यं प्रायश्चित्तं-शोधयतीति प्रायश्चित्तं तपःकर्म विशिष्टं चान्द्रायणाद्यात्मकं ' प्रतिपद्यते ' अभ्युपगच्छति ।] नो यथायोग्यं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते, तदेवं मायया स्वकार्यप्रच्छादकोऽस्मिन्नेव लोके मायावीत्येवं सर्वकार्येष्वेवाविश्रम्भणीयत्वेन 'प्रत्यायाति' प्रत्यायाति याति. तथाभूतश्च सर्वस्याविश्वा[स्यो]सो (?) भवति । तथाऽतिमायावित्वादसौ परलोके सर्वाधमेषु यातनास्थानेषु नरकतिर्यगादिषु पौनःपुन्येन प्रत्यायाति-भूयोभूयस्तेष्वेवारघट्टघटीन्यायेन प्रत्यागच्छति । तथा नानाविधैः प्रपञ्चैर्वञ्चयित्वा परं ' निन्दति ' जुगुप्सते, तद्यथा-अयमज्ञो मूर्खः पशुकल्पो, नानेन किमपि प्रयोजनमित्येवं परं निन्दति आत्मानं प्रशंसयति, तथाऽऽत्मप्रशंसया तुष्यति, एवं चासौ लब्धप्रसरोऽधिकं तथाविधानुष्ठायी भवति । निश्चरति-तस्मान्मातृस्थानान्न निवर्त्तते । तथाऽसौ मायया 'दण्डं' प्राण्युपमर्दकारिणं ' निसृज्य ' पातयित्वा पश्चाच्छादयति-अपलपति अन्यस्य[वा]उपरि प्रक्षिपति । स च मायावी सर्वदा वञ्चनपरायणः संस्तन्मनाः सर्वानुष्ठानेऽप्येवम्भूतो भवति-' असमाहृता ' अनङ्गीकृता शोभना लेश्या येन स तथा, आर्त्तध्यानोपहततया अशोभनलेश्य इत्यर्थः । तदेवमपगतधर्मध्यानोऽसमाहितोऽशुक्ललेश्यश्चापि भवति । तदेवं तस्य मायाशल्यप्रत्ययिकं सावद्यं कर्माधीयते, तदेतदेकादशं क्रियास्थानं मायाप्रत्ययिकं व्याख्यातम् ।

+[ ] नास्त्येतच्चिह्नान्तर्गतपाठः प्रत्यन्तरेषु ।

अहावरे बारसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिज्जति—जे इमे भवंति, [तं जहा—] आरन्निया आवसहिया गामंतिया कण्हुई राहस्सिया नो बहुसंजया नो बहुपडिविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं वि[प]उंजंति—अहं न हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं न अज्जावेयव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं न परिघेत्तव्वो अन्ने परिघेत्तव्वा, अहं न परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं न उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया गरहिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु [भोग]भोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु आसुरिएसु किब्बिसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवंति। ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जातिमूयत्ताए पच्चायंति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, दुवालसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिए। इच्चेयाइं दुवालसकिरियाठाणाइं दविएणं समणेणं वा माहणेणं वा सम्मं सुपरिजाणियव्वाणि भवंति॥ [सू. १२]॥

व्याख्या—अथ द्वादशं क्रियास्थानं लोभप्रत्ययिकमाख्यायते, [तद्यथा]—य इमे वक्ष्यमाणा अरण्ये वसन्त्यारण्यकास्ते

च कन्दमूलफलाहाराः सन्तः केचन वृक्षमूले वसन्ति, केचन 'आवसथेषु' शूद्र(धूड)वा[उटजा]कारेषु गृहेषु, तथाऽपरे ग्रामादिकमुपजीवन्तो ग्रामसमीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः, क्वचि(कदाचि)त्कार्ये मण्डलप्रवेशादिके रहस्यं येषां ते राहसिकास्ते च 'न बहुसंयताः' न सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो विरता, एतदुक्तं भवति–न बाहुल्येन त्रसेषु दण्डसमारम्भं विदधति, एकेन्द्रियोपजीविनस्त्वविधानेन तापसादयो भवन्ति, तथा 'न बहुविरता' न सर्वेष्वपि प्राणातिपातविरमणादिव्रतेषु वर्त्तन्ते, किन्तु द्रव्यतः कतिपयव्रतवर्त्तिनो, न भावतो, तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनस्याभावादित्यभिप्रायः। इत्येतदेवाऽऽविर्भावयितुमाह–'ते अप्पणो' इच्चादि, ते तापसादयः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेभ्य 'आत्मना' स्वतोऽविरताः– तदुपमर्दकादारम्भादविरता इत्यर्थः। ते पाषण्डिका आत्मना बहूनि स(त्य)त्यामृषाभूतानि वाक्यानि 'एवं' वक्ष्यमाणनीत्या विशेषेण प्रयुञ्जन्ति, यदिवा सत्यान्यपि तानि प्राण्युपमर्दकत्वेन मृषाभूतानि स(त्य)त्यामृषाणि, एवं ते प्रयुञ्जन्तीति दर्शयति, तद्यथा–अहं ब्राह्मणत्वान्न हन्तव्योऽन्ये तु शूद्रत्वाद्धन्तव्याः, तथाहि तद्वाक्यं–'शूद्रं व्यापाद्य प्राणायामं +जपेत् किञ्चिद्वा दद्यात्, तथा 'क्षुद्रसत्त्वानामनस्थिकानां शकटभरमपि व्यापाद्य ब्राह्मणं भोजये'दित्यादि, अपरञ्चाहं वर्णोत्तमत्वान्न आज्ञापयितव्योऽन्ये तु मत्तोऽवमाः[ऽधमाः]समाज्ञापयितव्याः, तथा नाहं परितापयितव्यः[अन्ये तु परितापयितव्याः], तथाऽहं वेतनादिना कर्म्मकरणाय न ग्राह्यः अन्ये तु शूद्रा ग्राह्या × इति। किम्बहुनोक्तेन ? नाहमुपद्रावयितव्यो–न जीवितादव्यपरोपयितव्योऽन्येस्त्व(तु)पद्रावयितव्या इति। तदेवं परपीडोपदेशनतोऽतिमूढतयाऽसम्बद्धप्रलापिनामज्ञानावृताना-

---

+ आवश्यकसरोचनम्। × मूले महणसूत्रानन्तरं परितापसूत्रमस्ति।

मारम्भरीणां विषमदृष्टीनां न प्राणातिपातविरतिरूपं व्रतमस्ति, तथा मृषावादादत्तादानविरमणाभावोऽप्यायोज्यः, अधुना त्वनादिभवाभ्यासाद्दुस्त्यजत्वेन प्राधान्यात्सूत्रेणैवाब्रह्माधिकृत्याऽऽह–'एवामेवे'त्यादि, 'एवमेव' पूर्वोक्तेनैव कारणेनाति-मूढतया परमार्थमजानानास्ते तीर्थिकाः स्त्रीषु कामेषु च शब्दादिषु मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः यावद्वर्षाणि चतुष्पञ्च षड्दशकानि, अयं च मध्यमः कालो गृहीतः, प्रायस्तीर्थिका अतिक्रान्तवयस एव प्रव्रजन्ति, तत्र च ते त्यक्त्वाऽपि गृहवासं भुक्त्वा भोगभोगानिति ते च किल वयं प्रव्रजिता इति वदन्तोऽपि न भोगेभ्यो निवृत्ताः, यतो मिथ्यादृष्टितयाऽज्ञानान्ध-त्वात्सम्यग्विरतिपरिणामरहिताः, ते चैवम्भूतपरिणामाः स्वायुषः क्षये कालमासे कालं कृत्वा विकृष्टतपसोऽपि सन्तोऽन्यतरे-ष्वासुरिकेषु किल्बिषिकस्थानेषूत्पादयितारो भवन्ति. ते ह्यज्ञानतपसा मृता अपि किल्बिषिके[षु स्थाने]षूत्पत्स्यन्ते, तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाः किल्बिषबहुलास्तत्कर्मशेषेण एलमूकभावेनोत्पद्यन्ते, यथा एडमूकोऽव्यक्तवाग्भवति एवम-सावप्यव्यक्तवाक्समुत्पद्यते, तथा 'तमूयत्ताए'त्ति तमस्त्वेन–अत्यन्तान्धतमसत्वेन जात्यन्धतयाऽत्यन्ताज्ञानावृततया [वा] तथा जातिमूकतया-ऽगतवाच इह प्रत्यागच्छन्तीति। तदेवम्भूतं खलु तीर्थिकानां सावद्यानुष्ठानादनिवृत्तानां तत्प्रत्य-यिकं सावद्यं कर्माधीयते, तदेतल्लोभप्रत्ययिकं द्वादशं क्रियास्थानमाख्यातमिति। इत्येवमर्थदण्डादीनि लोभप्रत्ययिकक्रिया-स्थानपर्यवसानानि द्वादश क्रियास्थानानि + 'द्रविकेण' मुक्तिगमनयोग्येन श्रमणेन माहनेन एतानि 'सम्यग्' यथाव-स्थितस्वरूपनिरूपणतो मिथ्यादर्शनाऽऽश्रितानि संसारकारणानीति कृत्वा ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहर्तव्यानि।

+ "कर्मग्रन्थि द्रावणाद्द्रवः–संयमः, स विद्यते यस्यासौ द्रविकस्तेन" इति हर्ष०।

आहावरे तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिएत्ति आहिज्जति—इह खलु अतत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमियस्स उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमियस्स, मणसमियस्स वयसमियस्स कायसमियस्स, मणगुत्तस्स वयगुत्तस्स कायगुत्तस्स, गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभचारिस्स, आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं निसियमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गिह्णमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हनिवायमवि अत्थि वेमाता सुहुमा किरिया इरियावहिया नाम कज्जइ, सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा, बितियसमए वेइया, तइयसमए निज्जिण्णा, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेइया निज्जिण्णा, सेयकाले अकम्मए यावि भवइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जति, तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिएत्ति आहिज्ज[ए]ति । *तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिएत्ति

---

* * एतच्चिन्हान्तर्गतो मूलपाठो नास्ति मुद्रितासु सवृत्तिकप्रतिषु हर्षकुलीयदीपिकास्वपि, परमेतद्दीपिकाप्रतिषु सर्वास्वप्यस्ति,

आहि[ते]ता* । से बेमि जे अतीया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता सवे ते एयाइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिंसु वा भासिंति वा भासिस्संति वा, पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सेविंसु वा सेविंति वा सेविस्संति वा ॥ [सू० १४॥]

व्याख्या—अथापरं त्रयोदशं क्रियास्थानमीर्यापथिकं × नामाख्यायते–इह खलु प्रवचने संयमे वा [आत्मनो भाव] आत्मत्वं, तदर्थमात्मत्वार्थं संवृतस्य अनगारस्य ईर्यादिसमितस्य तथा त्रिगुप्तिगुप्तस्य गुप्तेन्द्रियस्य नवब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतब्रह्मचारिणश्च सतः, तथोपयुक्तं गच्छतस्तिष्ठतो निषीदतस्त्वग्वर्तनां कुर्वाणस्य, तथोपयुक्तमेव वस्त्रं पतद्ग्रहं कम्बलं पादप्रोञ्छनकं वा गृह्णतो निक्षिपतो वा, यावच्चक्षुःपक्ष्मनिपातमप्युपयुक्तं कुर्वतः सतोऽस्त्यनन्तमुपयुक्तस्याप्यस्ति–विद्यते विविधा मात्रा [विमात्रा], सैवंविधा सूक्ष्माक्षिपक्ष्मसञ्चलनरूपादिकैर्यापथिका नाम क्रिया केवलिनाऽपि क्रियते, तथाहि–सयोगी जीवो न शक्नोति क्षणमप्येकं निश्चलः स्थातुं, अग्नितप्यमानोदकवत्कार्मणशरीरानुगतः सदा परिवर्तयन्नेवास्ते, केवलिनोऽपि

किन्तु सर्वेषामपि क्रियास्थानानामुपसंहारसूत्रवदत्रापि ' आहिज्जती 'स्य स्थाने ' आहिते ' वा ' आहिए ' इति भवितुमर्हतीत्युद्बोधनार्थं लेखकादिभिः पुनरुक्ततया लिखितो भविष्यतीति सम्भावनायां न किमप्ययुक्तत्वं प्रतिभासते । × " ईरणं-ईर्या, तस्यास्तया वा पन्था ईर्यापथः स विद्यते यस्य तदीर्यापथिकं, एतच्च शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तं, प्रवृत्तिनिमित्तं तु इदं–सर्वत्रोपयुक्तस्य निष्कषायस्य समीक्षितमनोवाक्कायक्रियस्य-या[क्रिया]तया यत्कर्म तदीर्यापथिकं सैव वा क्रिया ईर्यापथिकम् " इति हर्षं० कुलः ।

सूक्ष्मगात्रसञ्चारा भवन्ति, तया क्रियया यद् बध्यते कर्म तस्य च कर्मणो या अवस्थास्ताः क्रियाः, ता एव दर्शयितुमाह– 'सा पढमसमये'त्यादि, याऽसावकषायिणः क्रिया तया यद्बध्यते कर्म, तत्प्रथमसमय एव बद्धं स्पृष्टं चेति कृत्वा तत्क्रियैव बद्धस्पृष्टेत्युक्ता, तथा द्वितीयसमये वेदिता तृतीयसमये निर्जीर्णा, एतदुक्तं भवति–कर्म योगनिमित्तं बध्यते, तत् स्थितिश्च कषायायत्ता तदभावाच्च न तस्य सांपरायिकस्येव स्थितिः, किन्तु योगसद्भावाद्बध्यमानमेव 'स्पृष्टतां' संश्लेषं याति, द्वितीयसमये त्वनुभूयते, तच्च प्रकृतितः सातावेदनीयं स्थितितो द्विसमयस्थितिकं अनुभावतः शुभानुभावमनुत्तरोपपातिकदेवसुखातिशायि प्रदेशतो बहुप्रदेशमस्थिरबन्धं बहुव्ययं च । तदेवं सा ईर्यापथिका क्रिया प्रथमसमये बद्धस्पृष्टा द्वितीये समये उदिता वेदिता निर्जीर्णा भवति । 'सेयकाले'त्ति आगामिनि तृतीयसमये तत्कर्मापेक्षया अकर्मतापि च भवति । एवं तावद्वीतरागस्येर्याप्रत्ययिकं कर्म 'आधीयते' सम्बध्यते । तदेतत्त्रयोदशमं क्रियास्थानं व्याख्यातं, ये पुनस्तेभ्योऽन्ये प्राणिनस्तेषां सांपरायिको बन्धः । तेषां त्वीर्यापथवर्जाणि द्वादशक्रियास्थानानि, तेषु(?) वर्त्तन्ते, तेषां च तद्वर्तिनामसुमतां मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगनिमित्तः साम्परायिको बन्धो भवति, स त्वनेकप्रकारस्थितिकः, तद्रहितस्तु केवलयोगप्रत्ययिको द्विसमयस्थितिरेवेर्याप्रत्ययिक इति स्थितम् । एतानि त्रयोदशक्रियास्थानानि न वर्द्धमानस्वामिनैवोक्तानि, किन्त्वन्यैरपीत्येतद्दर्शयितुमाह–'से बेमी'त्यादि, सोऽहं ब्रवीमि–यत्प्रागुक्तं तद्ब्रवीमि इति, तद्यथा––येऽ(ईन्तोऽ)तिक्रान्ताः, ये च वर्त्तमानाः, ये चागामिनि काले भविष्यन्ति, ते सर्वेऽप्येवं +प्ररूपितवन्तः प्ररूपयन्ति प्ररूपयिष्यन्ति, तथैतदेव त्रयोदशं क्रिया-

+ 'अभाषिषुः भाषन्ते भाषिष्यन्ते च । तथा तत्स्वरूपतस्तद्विपाकतश्चे'ति बृहद्वृत्तौ ।

स्थानं संवितयन्तः सेवन्ते संविश्यन्ते च, यथा द्वि-जम्बूद्वीपे सूर्यद्वयं तुल्यप्रकाशं भव[त:]ति यथा वा सदृशोपकरणाः प्रदीपास्तुल्यप्रकाशा भवन्त्येवं तीर्थकृतोऽपि निरावरणत्वात्कालत्रयवर्तिनोऽपि तुल्योपदेशा भवन्ति।

साम्प्रतं त्रयोदशसु क्रियास्थानेषु यन्नाभिहितं पापस्थानं तद्विभणिषुराह—

अदुत्तरं च णं पुरिसविजयविभंगमाइक्खिस्सामि।

व्याख्या—अस्मात्त्रयोदशक्रियास्थानप्रतिपादनादुत्तरं यदत्र न प्रतिपादितं तदनेन सूत्रसन्दर्भेण प्रतिपाद्यते-पुरुषविजय-विभङ्गो* स च विभङ्गवदवधिविपर्ययवद्विभङ्गो ज्ञानविशेषस्तमेवम्भूतं ज्ञानक्रियाविशेषमाख्यास्यामि-प्रतिपादयिष्यामि। यादृशानां चासौ भवति तान्लेशतः प्रतिपादयितुमाह—

इह खलु नाणापण्णाणं नाणाछंदाणं नाणासीलाणं नाणादिट्ठीणं नाणारुईणं नाणारंभाणं नाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं नाणाविहपावसुयज्झयणं एवं भवइ, तं जहा—

व्याख्या—इह खलु जगति नानाप्रकारा विचित्रक्षयोपशमात्प्रज्ञा येषां ते नानाप्रज्ञास्तेषां, तथा छन्दो-ऽभिप्रायः,

---

* "पुरुषा 'विचीयन्ते' मृग्यन्ते-विज्ञानद्वारेणान्वेष्यन्ते येन स पुरुषविचयः पुरुषविजयो वा-केषाञ्चिदल्पसत्त्वानां तेन ज्ञानलवेनाविधिप्रयुक्तेनानर्थानुबन्धिना विजयादिति" इति वृहद्वृत्तौ। "विजयो ना[म]मार्गणा, विविधो विशिष्टो वा विभागो-विभङ्गः, तं पुरिसजातविभंगं आइक्खिस्सामि" इति चूर्णौ।

स नाना येषां ते तथा, तेषां, नानाशीलानां, तथा नानारूपा दृष्टि–रन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा, तेषामिति, तथा नाना-रुचिर्येषां ते नानारुचयस्तेषां, तथाहि–आहारशयनासनाच्छादनाभरणयानवाहनगीतवादित्रादिषु मध्येऽन्यस्यान्याऽन्यस्या-न्या रुचिर्भवति, तेषां नानारुचीनामिति, तथा नानारम्भाणामिति कृषिपाशुपाल्यविपणिशिल्पकर्मसेवाद्यन्यतमारम्भेण, तथा नानाऽध्यवसायसंयुतानां शुभाशुभाध्यवसायभाजामिति, इहलोकप्रतिबद्धानां परलोकनिष्पिपासानां विषयतृषि-तानामिदं नानाविधं पापश्रुताध्ययनं भवति । तद्यथा—

भोमं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरलक्खणं (लक्खणं) वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिस-लक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिंढलक्खणं कुक्कुडलक्खणं तित्तिरलक्खणं वट्टग-लक्खणं लावगलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तलक्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणि-लक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भाकरं मोहणकरं आहव्वणिं पागसासणिं दव-होमं खत्त[खत्तिय]विज्जं चंदचरियं सूरचरियं सुक्कचरियं वहस्सतिचरियं उक्कापायं दिसादाहं मियचक्कं वायसपरिमंडलं पंसुवुट्ठिं केसवुट्ठिं मंसवुट्ठिं रुहिरवुट्ठिं वेतालिं अद्धवेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवा[गिं]गिंणि साबरिं दामलिं कालिंगिं गोरिं गंधारिं उवत्ताणिं उप्पयणिं जंभिणिं

थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विसल्लकरणिं पक्कमणिं अंतद्धाणिं आयमणिं, एवमाइयाओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति पाणस्स हेउं पउंजंति वत्थस्स० लेणस्स० सयणस्स० अन्नेसिं वा विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं पउंजंति, तेरिच्छं ते विज्जं सेवंति, अणारिया विप्पडिवन्ना कालमासे कालं किच्चा, अन्नयराइं आसुरियाइं, किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, +ते ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमअंधयाए पच्चायंति। (सू० १५)

व्याख्या—भूमौ भवं भौमं-निर्घातभूकम्पादिकं, उत्पातं-कपिहसितादिकं, स्वप्नं-गजसिंहवृषभादिकं× अंगं-अक्षिबाहुस्फुरणादिकं, स्वरलक्षणं-काकस्वरगम्भीरस्वरादिकं, लक्षणं-यवपद्मादिकं, व्यञ्जनं-मषतिलकादि, तथा स्त्रीलक्षणं [रक्तकरचरणादिकं, एवं]पुरुषलक्षणादीनां काकिणीरत्नपर्यन्तानां लक्षणप्रतिपादकशास्त्रपरिज्ञानं, तथा मन्त्रविशेषरूपा विद्या, तथाहि-सौभाग्यकरां, दुर्भाग्यकरां, तथा 'गर्भकरां' गर्भाधानविधायिनीं, मोहकरां-व्यामोहोत्पादिकां, आथर्वणीं-सद्योऽनर्थकारिणीं, तथा 'पाकशासनीं' इन्द्रजालसंज्ञिकां, तथा नानाविधद्रव्यैः कणवीरपुष्पादिभिः घृतमध्वादिभिर्हवनं, तथा क्षत्रियाणां विद्या धनुर्वेदादिका(तां), तथा ज्योतिषमधीत्य व्यापारयन्ति, 'चंदचरियं'मित्यादि, चन्द्रचरित्रं वर्णसंस्थान-

---

+ नास्ति एतौ शब्दौ सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु। × 'तथाऽऽन्तरीक्षं-अमोघादि' इति बृहद्वृत्तौ।

प्रमाणप्रमाननक्षत्रयोगराहुग्रहणादिकं, सूर्यचरितं–सूर्यस्य मण्डलपरिमाणराशिपरिभोगोद्योतावकाशराहूपरागादिकं, तथा शुक्रचारो वीथीत्रयप्रचारादिकः, तथा बृहस्पतिचारः [उदयास्तवर्षफलादि] शुभाशुभफलप्रदः संवत्सरराशिपरिभोगादिकः, तथोल्कापातदिग्दाहा[illegible]षु मण्डलेषु भवन्तः शस्त्राग्निक्षुत्पीडाविधायिनो भवन्ति, तथा मृगशृगालादीनां आरण्यकजीवानां कृतदर्शनग्रामनगरप्रवेशादौ (या) शुभाशुभचिन्ता तन्मृगचक्रं, तथा वायसादीनां पक्षीणां यत्र स्थानदिक्स्वराश्रयणात् शुभाशुभफलं चिन्त्यते तद्वायसपरिमण्डलं, तथा पांशुकेशमांसरुधिरादिवृष्टयोऽनिष्टफलदा यत्र शास्त्रे चिन्त्यते, तथा विद्या नानाप्रकाराः क्षुद्रकर्मकारिण्यस्ताश्चेमाः–वैताली नाम विद्या नियताक्षरप्रतिबद्धा, सा च किल कतिभिर्जापैर्दण्डमुत्थापयति, तथाऽर्द्धवैताली तमेवोपशमयति, तथाऽवस्वापिनी+प्रमुखाः सर्वा अपि विद्या ज्ञातव्याः । तदेवमादिकाः प्रज्ञप्त्यादिकाश्च गृह्यन्ते, एताश्च पाषण्डिका अविदितपरमार्था गृहस्था वा स्वयूथ्या वा द्रव्यलिङ्गधारिणोऽन्नपानाद्यर्थे प्रयुञ्जन्ति, अन्येषां वा विरूपरूपाणां कामभोगानां कृते प्रयुञ्जन्ति । सामान्येन विद्यासेवनमनर्थकारीति दर्शयितुमाह–' तेरिश्च 'मित्यादि, तिरश्चीनां सदनुष्ठानविघातिनीं ते अनार्या विप्रतिपन्ना विद्यां सेवन्ते, यद्यपि ते भाषार्याः क्षेत्रार्यास्तथाप्यनार्यकर्मकारित्वादनार्या एव द्रष्टव्याः । ते च स्वायुषःक्षये कालमासे कालं कृत्वा यदि कथञ्चिद्देवलोकगामिनो भवन्ति, ततोऽन्यतरेष्वासुरीयेषु किल्बिषिकादिस्थानेषूत्पत्स्यन्ते, ततोऽपि विप्रमुक्ता यदि मनुष्येषूत्पद्यन्ते, तत्र च तत्कर्मशेषतया

+ " तालोद्घाटीनी श्वापाकी शाबरी द्राविडी कालिङ्गी गौरी गान्धारी अवपतनी उत्पतनी जम्भिनी स्तम्भिनी श्लेषिणी आमयकारिणी विशल्यकारिणी अन्तर्द्धानकारिणी " इति हर्ष० ।

एडमूकत्वेनाव्यक्तभाषिणस्तमस्त्वेनान्धतया मूकतया वा प्रत्यागच्छन्ति । ततोऽपि नानाप्रकारेषु यातनास्थानेषु नारकतिर्यगादिषूत्पद्यन्ते ।

साम्प्रतं गृहस्थानुद्दिश्याधर्मपक्षासेवनमुच्यते—

से एगइओ आयहेउं वा णायहेउं वा, सयणहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा नाय[गं वा]हेउं वा (?) सहवासियं वा णिस्साए ।

व्याख्या—स एकः कदाचित् कोऽपि गृहस्थः निस्त्रिंशः साम्प्रतापेक्षी अपगतपरलोकभयः कर्मपरतन्त्रः सुखभोगमिच्छन् आत्मनिमित्तं यानि कर्कशानि कर्माणि कुरुते तान्याह—'आयहेउं वा,' आत्मनिमित्तं, तथा ज्ञातयः स्वजनास्तन्निमित्तं, तथा 'अगारनिमित्तं' गृहसंस्करणार्थं, सामान्येन वा कुटुम्बार्थं [वा] परिवारनिमित्तं दासीदासकर्मकरादिकृते, तथा ज्ञात एव 'ज्ञातकः' परिचितस्तमुद्दिश्य 'सहवासिकं' प्रातिवेश्मिकमुद्दिश्य, एतानि वक्ष्यमाणानि कुर्यादिति सम्बन्धः । तानि च दर्शयितुमाह—

अदुवा अणुगामिए १, अदुवा उवचरए २, अदुवा पाडिपहिए ३, अदुवा संधिच्छेदए ४, अदुवा गंठिच्छेदए ५, अदुवा उरब्भिए ६, अदुवा सोयरिए ७, अदुवा वागुरिए ८, अदुवा साउणिए ९, अदुवा मच्छिए १०, अदुवा गोवालए ११, अदुवा गोघायए १२, अदुवा सोवणिए १३, अदुवा

सोतणियंतिए १४ ।

व्याख्या—अथवा 'आनुगामिकः' कश्चिदकार्यकरणाय गच्छति, तमनुगच्छति, अथवा अकार्यकरणाय, अथवाऽपकारकर्त्र्यपकारकृते विश्वसनाय उपचारको भवति, अथवा तस्य प्रातिपथिको भवति, 'प्रतिपथं' सन्मुखमागच्छति, अथवा स्वजनाद्यर्थं सन्धिच्छेदको (ग्रन्थिच्छेदकश्चापि) भवति—चौर्यं प्रतिपद्यते, तथोरभ्रैर्मेषैश्चरति, औरभ्रिको भवति, [अथवा सौकरिकः] अथवा शकुनिभिश्चरति शाकुनिको भवति, अथवा 'वागुरया' मृगाऽऽदिबन्धनरज्ज्वा चरति स्वयंकः ×[वागुरि], अथवा मत्स्यैश्चरति मा[त्स्यिकः]त्स्यिकः, अथवा गोपालभावं प्रतिपद्यते, अथवा गोघातकः स्यात्, अथवा श्वभिश्चरति शौवनिकः—शुनां परिपालको भवति, अथवा मृगयां कुर्वन् श्वभिर्मृगघातं करोति । अथैतानि चतुर्दशस्थानानि आदितो विवृणोति—

से एगतिओ आणुगामियं भावं पडिसंधाय तमेव अणुगामियाणुगामियं हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवइ ॥ १ ॥

व्याख्या—तत्रैकः कश्चिदात्मार्थं अपरस्य ग्रामान्तरं गच्छतः किञ्चिद्द्रव्यजातमवगम्य कटके गत्वा अवसरं लब्ध्वा

× मूले शाकुनिकवागुरिकयोः स्थाने वागुरिकशाकुनिकयोरिति व्यत्ययेन निर्देशः ।

तद्द्रव्यं गृहीतुमनाः पथिकं [दण्डादिभिः] हन्ता भवति, तथा छेत्ता भवति खड्गादिभिः, तथा भेत्ता [वज्रमुष्ट्यादिभिः] लुम्पयिता—केशाकर्षणादिकदर्थनतः, तथा विलुम्पयिताऽत्यन्तं दुःखमुत्पादयति, तथाऽपद्रावयति जीविताद्व्यपरोपयति। तदेवमादिकं कृत्वाऽऽहारमाहारयति, एतदुक्तं भवति—गलकर्त्तकः कश्चिदन्यस्य धनवतोऽनुगामुकभावं प्रतिपद्य तं बहुविधैरुपायैर्विश्रम्भे पातयित्वा, भोगार्थी—मोहान्ध इहलोकार्थी तस्य धनवतो गलकर्त्तनादिकं कृत्वा तस्य द्रव्यजातमादायाऽऽहारादिकां भोगक्रियां विधत्ते, इत्येवमसौ 'महद्भिः' क्रूरैः 'कर्मभि'रनुष्ठानैर्महापातकभूतैस्तीव्रानुभावैरात्मानमुपख्यापयिता भवति। तथाहि—असौ महापापकारीत्येवमात्मानं ख्यापयति। तथा लोके तद्विपाकाऽऽपादितेनावस्थाविशेषेण नारकतिर्यगादिगतावात्मानमाख्यापयिता भवति ॥ १ ॥

से एगइओ उवचरगभावं पडिसंधाय तमेव उवचरितं हंता छेत्ता भेत्ता जाव आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥ २ ॥

व्याख्या—एकः कश्चिदकर्त्तव्यकारी कस्यापि धनवतो धनं जिघृक्षुः उपचारकभावं प्रतिसन्धाय पश्चात्तं नानाविधैरुपायैरुपचरति, उपचर्य च विश्रम्भे पातयित्वा तद्द्रव्यार्थी तस्य हन्ता छेत्ता भेत्ता यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसौ [आत्मानं] महद्भिः पापैः कर्मभिरुपाख्यापयिता भवतीति ॥ २ ॥

से एगइओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पाडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता जाव उद्दवइत्ता

आहारं आहारेति इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥ ३ ॥

व्याख्या—अथैकः कश्चिदागन्तुकस्य पथिकादेर्धनवतः प्रातिपथिकभावं प्रतिपद्यते–सम्मुखं गत्वा प्रच्छन्नो मार्गं बद्ध्वा तिष्ठति, ततः प्रतिपथे स्थित्वा वस्यार्थवतो विश्रम्भतो हन्ता छेत्ता यावदपद्रावयिता भवतीत्येवमसावात्मानं पापैः कर्मभिः ख्यापयतीति ॥ ३ ॥

से एगतिए संधिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥ ४ ॥

व्याख्या—एकः कश्चित्पुरुषो विरूपकर्म्मणा जीवितार्थी 'सन्धिच्छेदकभावं' खत्रखननत्वं प्रतिपद्यते, ततोऽसौ 'सन्धि छिन्दन्' खात्रं खनन् प्राणिनां हन्ता छेत्ता भेत्ता भवतीत्येतच्च कृत्वाऽऽहारमाहारयतीत्येवमसौ महद्भिः पापकर्मभिः संसारे भ्रमति ॥ ४ ॥

से एगतिए गंठिच्छेद[ग]भावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अप्पाणं उवक्खाइत्ता भवति ॥ ५ ॥

व्याख्या—अथ कश्चित्पापकर्मकारी घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपद्य तमेव हन्ता छेत्ता यावत् परद्रव्यमादाय कर्मबन्धं करोति, ततः संसारे पर्यटतीति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

से एगतिए उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अन्नतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ, एसो अभिलावो सव्वत्थ ६ ।

व्याख्या—कश्चिदधर्म्मरुचिः 'औरभ्रिकभावं' औरणिकभावं प्रतिपद्यते, स च औरभ्रिकस्तदूर्णया तन्मांसादिना वाऽऽत्मानं वर्त्तयति, तदेवमसौ तद्भावं प्रतिपद्य उरभ्रं वा अन्यं वा त्रसं वा (?) प्राणिनं स्वमांसपुष्ट्यर्थं व्यापादयति, तस्य वा हन्ता छेत्ता भवतीति, शेषं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

से एगतिए सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ॥ ७ ॥

व्याख्या—कश्चित् शौ(व)निक+भावं (शौवनिका)श्चाण्डालाः खाटिकास्तद्भावं प्रतिपद्यते, शेषं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

से एगइओ वागुरियभावं पडिसंधाय मियं वा अन्नयरं वा तसं वा पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ॥ ८ ॥

व्याख्या—कश्चित्पापात्मा 'वागुरिकभावं' लुब्धकत्वं प्रतिपद्य वागुरया मृगं अन्यं वा त्रसं प्राणिनं शशकादिकमात्म-

+ " अत्रान्तरे सौकरिकपदं, तच्च स्वबुद्ध्या व्याख्येयं, सौकरिकाः–श्वपचाश्चाण्डालाः खट्टिका इत्यर्थः " इति वृत्तौ ।

पुत्रार्थं स्वजनाद्यर्थं वा व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ ८ ॥

से एगइओ साउणियभावं पडिसंधाय सउणियं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ९ ॥

व्याख्या—कश्चिदधमोपायजीवी 'शकुना' लावकादयस्तैश्चरति, ततश्च तन्मांसाद्यर्थी 'शकुनिं' पक्षिणं [अन्यं वा] तित्तिरादिकं व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ ९ ॥

से एगइओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ॥ १० ॥

व्याख्या—कश्चिन्मात्स्यिकभावं प्रतिपद्यते, तद्भावं प्रतिपद्य जलचरजीवान् व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ १० ॥

से एगइओ गोघायगभावं पडिसंधाय गोणं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवइ ॥ ११ ॥

व्याख्या—यथा कश्चित्क्रूरकर्मकारी गोघातकभावं प्रतिपद्यते, शेषं पूर्ववत् ॥ ११ ॥

से एगतिओ गोपालगभावं पडिसंधाय तमेव गोणं [अन्नयरं वा तसं पाणं] परिजविय

परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ॥ १२ ॥

व्याख्या—कश्चित् गोपालकभावमादृत्य 'गोणं' वृषभं गोकुलाद्बालयित्वा 'परिजविय परिजविय' पृथक्कृत्य तस्य हन्ता छेत्ता इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

से एगतिओ सोवणियभावं पडिसंधाय मणुस्सं [सुणयं] वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ॥ १३ ॥

व्याख्या—कश्चिज्जघन्यकर्मकारी, सौ[शौ]वनिकभावं (-पापर्द्धिभावं प्रतिपद्यते), सारमेयं गृहीत्वा आखेटकक्रियां करोति, तेन मृगशूकरादिकं व्यापादयति, शेषं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

से एगतिओ सोवणि[यंति]यभावं पडिसंधाय मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता छेत्ता जाव आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति १४। [सू० १६]

व्याख्या—अथैकः कश्चिन्महाक्रूरकर्मकारी प्रत्यन्तनिवासी क्रूरसारमेयपालको दुष्ट सारमेयपरिग्रहं प्रतिपद्य मनुष्यं वा कञ्चन पथिकं-अभ्यागतमन्यं वा मृगशूकरादिकं त्रसं प्राणिनं हन्ता भवति, तदेवमसौ महाक्रूरकर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवतीति ॥ १४ ॥ आजीविकार्थं पापकर्म उक्तं, अथ केनापि हेतुना यत्पापं क्रियते तदाह—

संतेगतिया मणुस्सा परिसामज्झाओ उट्ठेत्ता अहमेयं हणामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा लावगं वा कवोतगं वा कविंजलं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ॥

व्याख्या—अथैकः कश्चिन्मांसादनेच्छया व्यसनेन क्रीडया कुपितो वा परिषदो मध्यादुत्थायैवम्भूतां प्रतिज्ञां विदध्यात्, यथाऽहमेनं वक्ष्यमाणं प्राणिनं हनिष्यामीति प्रतिज्ञां कृत्वा पश्चात्तित्तिरादिकं हन्ता छेत्ता यावदात्मानं पापेन कर्मणा ख्यापयिता भवतीति । अत्र पूर्वमनपराधक्रुद्धा अभिहिताः, साम्प्रतमपराधक्रुद्धान्दर्शयति—

से एगईओ केणवि आयाणेणं विरुद्धे समाणे, अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेइ अन्नेण वि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेइ अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं पि अन्नं समणुजाणति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ।

व्याख्या—अथैकः कश्चित् प्रकृत्या क्रोधनः केनापि हेतुना कुपितः सन् परस्यापकुर्यात्, तत्र शब्दादानेन केनचिदाक्रुष्टो निन्दितो वा विरुद्ध्येत, रूपादानेन तु बीभत्सं कञ्चन दृष्ट्वाऽपशकुनाध्यवसायेन कुप्येत, गन्धरसादिकं स्वादानं सूत्रेणैव दर्शयति-[अथवा] 'खलस्य' कुपितादिविशिष्टस्य दानं खलके [खलस्य]वाऽल्पधान्यादेर्दानं, तेन कुपितोऽथवा

सुरायाः ‘स्थालकं’ कोशकादि तेन विवक्षितलाभाभावात् कुपितो गृहपत्यादेरेतत्कुर्यादित्याह—स्वयमेवाग्निकायेनाग्निना खलकवर्त्तीनि ‘शस्यानि’ धान्यानि ‘ध्मापयेत्’ दहेदन्येन वा दाहयेद्दहतो वाऽन्यानसमनुजानीयादित्येवमसौ महापाप-कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवति । साम्प्रतमन्येन प्रकारेण पापोपादानमाह—

से एगइओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहा-वतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति अन्नेण वा कप्पावेति कप्पंतं [पि] अन्नं समणुजाणति, इति से महया जाव भवति ।

व्याख्या—अथैकः कश्चित्केनचित् खलदानादिनाऽऽदानेन गृहपत्यादेः कुपितस्तत्सम्बन्धिन उष्ट्रादेः स्वयमेवात्मना-पर्शादिना ‘घूरिया[घूरा]ओ’त्ति जङ्घाः* खलका वा ‘कप्पयति’ छिनत्ति अन्येन वा छेदयति अन्यं वा छिन्दन्तं समनुजानीते, इत्येवमसावात्मानं पापेन कर्मणा उपख्यापयिता भवतीति । किञ्च—

से एगतिओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहा-वतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभ-

---

* ‘ट(आ)ङ्का(?)’ इति प्रत्यन्तरे । “जङ्घावयवान्” इति हर्ष० ।

सालाओ वा, कंटगबोंदियाहिं पडिपिहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ अन्नेण वि झामावेति झामंतं पि अन्नं समणुजाणाति, इति से महया पावकम्मेहिं उवक्खाइत्ता भवति ।

व्याख्या—अथैकः कश्चित्केनचिन्निमित्तेन गृहपत्यादेः कुपितस्तत्सम्बन्धीनामुष्ट्रादीनां 'शाला' गृहाणि कण्टकशाखाभिः 'पिधाय' स्थगयित्वा स्वयमेवाग्निकायेन दहेत्, शेषं पूर्ववत् ।

से एगतिओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा कुंडलं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरति अन्नेण वि अवहरावेति अवहरंतं[पि] अन्नं समणुजाणाति, इति से महया जाव भवति ।

व्याख्या—अथैकः कश्चित्केनचिदादानेन कुपितो गृहपत्यादेः सम्बन्धिकुण्डलादिकं द्रव्यजातं स्वयमेवापहरेदवशिष्टं पूर्ववत् । साम्प्रतं पाषण्डिकोपरि कुपितः सन् यत्कुर्याचद्दर्शयति—

से एगइओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाणं वा माहणाणं वा छत्तगं वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्ठिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा चिलिमिलिगं वा चम्मगं वा चम्मछेयणगं वा चम्मकोसियं वा सयमेव अवहरति जाव समणु-

जाणति, इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

व्याख्या—अथैकः कश्चित्स्वदर्शनानुरागेण वा मादपराजितो वा[ऽन्येन] केनचिन्निमित्तेन वा कुपितः सन्नेतत्कुर्यात्-श्रमणानां शाक्यादीनां माहनानां वा केनचिदादानेन कुपितः सन् दण्डच्छत्रादिक + मुपकरणजातमपहरेत्, अन्येन वा हारयेत् अन्यं वा हरन्त समनुजानीयादित्यादि पूर्ववत् । एवं तावद्विरोधिनोऽभिहिताः साम्प्रतं इतरेऽभिधीयन्ते—

से एगइओ नो वितिगिंछइ [तं जहा-] गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सयमेव अगणि-काएणं ओसहीओ झामेति जाव अन्नंपि झामंतं समणुजाणति, इति[से]महया जाव भवति ।

व्याख्या—कश्चित्पुरुषोऽत्यन्तमूर्खतया नो 'वितिगिंछइ' न स्वचेतसि विमृशते, यथाऽनेन कार्येण कृतेन परलोके महते दुःखाय भविष्यतीति न मीमांसतेऽतिमूर्खत्वात्, मदीयमिदमनुष्ठानं पापानुबन्धीत्येवं न पर्यालोचयति, ततश्च परलोक-विरोधिनीक्रियाः कुर्यात् । एतदेवोद्देशतो दर्शयति, [× तद्यथा-गृहपत्यादेर्निर्निमित्तमेव-तत्कोपकरणमन्तरेणैव 'स्वयमेव' आत्मना 'अग्निकायेन' अग्निना 'औषधीः' शालिव्रीह्यादिकाः 'ध्मापयेत्' दहेत्तथाऽन्येन दाहयेद्दहन्तं च समनु-

+ "भाण्ड किञ्चिद्वस्तु 'मात्रकं' पात्रं 'लट्ठिगं' यष्टि 'भिसिगं' वृषी आसनमिति यावत् 'चेलकं' वस्त्रं 'चिलिमिलिगं' प्रच्छादनपटी 'चर्मकं' पादुकादि 'चर्मच्छेदनकं' शस्त्रादि 'चर्मकोशकं' शस्त्रक्षेपकोत्थलकं स्वयमपहरेत्," इति हर्ष० ।

× [ ] एतच्चिन्हान्तर्गतः पाठो नास्ति सर्वास्वपि दीपिकाप्रतिष्वतो बृहद्वृत्तितोऽत्रोद्धृतः ।

जानीयादित्यादि]।

[से एगइओ णो वितिगिंछइ,] तं जहा—गाहावईण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति अन्नेण वा कप्पावेति अन्नं पि कप्पंतं समणुजाणति ॥ १ ॥ से एगतिओ णो वितिगिंछति, तं जहा—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टगसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा कंटगबोंदिया[हिं]ए पडिपिहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेइ जाव समणुजाणति ॥ २ ॥ से एगतिओ णो वितिगिंछति, तं जहा—गाहावतीण वा गाहावति-पुत्ताण वा कुंडलं वा जाव मोत्तियं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति ॥ ३ ॥ से एगतिओ णो वितिगिंछति, [तं जहा—] समणाणं वा माहणाणं वा [छत्तगं वा] दंडगं वा जाव चम्मच्छेद[ण]गं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति ॥४॥ इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवति।

व्याख्या—एते आलापकाः पूर्ववद् व्याख्येयाः, विशेषस्त्वयं–प्राक्तनेष्वालापकेषु केनापि कारणेन कुपितः सन् पापक्रियाः कुरुते, अत्रालापकेषु निरर्थकं पापं गृह्णाति, अयं विशेषः। साम्प्रतं विपर्यस्तदृष्टय आगाढमिथ्यादृष्टयोऽभिधीयन्ते—

से एगतिओ समणं वा माहणं वा दिस्सा नाणाविहेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति।

व्याख्या—अथैकः कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरभद्रकः साधुं दृष्ट्वा प्रत्यनीकतया श्रमणादीनां निर्गच्छतां प्रविशतां स्वतश्च निर्गच्छन् प्रविशन् वा नानाविधैः पापोपादानभूतैः कर्मभिरात्मानमुपख्यापयिता भवतीत्येतदेव दर्शयति—

अदुवा णं अच्छराए आफालित्ता भवति अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवति कालेण वि से अणुप्पविट्ठस्स असणं वा ४ जाव नो दवावित्ता भवति, जे इमे भवंति वोन्नमंता भारुक्कंता अलसगा वसलया किवणगा समणगा पव्वयंति ।

व्याख्या—अथवेति पक्षान्तरोपग्रहार्थः, कश्चित्साधुदर्शने सति मिथ्यात्वोपहतदृष्टितया अपशकुनोऽयमित्येवं मन्यमानः सन् दृष्टिपथादपसारयन् साधुमुद्दिश्यावज्ञयाऽप्सरया–चप्पुटिकया आस्फालयिता भवति, अथवा तिरस्कारमापादयन् परुषं वचो ब्रूयात्, तद्यथा–ओदनमुण्ड ! निरर्थककायक्लेशपरायण ! दुर्बुद्धे ! अपसराग्रतः, ततोऽसौ भ्रुकुटिं विधायादसभ्यं वा ब्रूयात्, तथा भिक्षाकालेनापि तस्य भिक्षोरन्येभ्यो भिक्षाचरेभ्योऽनु-पश्चात्प्रविष्टस्य मतोऽतिदुष्टतया अशनादेर्नो दापयिता भवति अपरश्च दानोद्यतं निषेधयति, तत्प्रत्यनीकतया एवं ब्रूते–ये इमे पाषण्डिका भवन्ति ते एवम्भूता भवन्तीत्याह–' वोन्नमंत 'त्ति तृणकाष्ठाहारादिकमध[म]र्म(?)कर्म्म तद्वन्तस्तथा भारेण–कुटुम्ब[भारेण पोट्टलिकादि]भारेण वा'ऽऽक्रान्ताः ' पराभग्नाः सुखलिप्सवोऽलसाः–क्रमागतं कुटुम्बं पालयितुमसमर्थाः, ते पाषण्डमाश्रयन्ति, तथा ' वसलग 'त्ति ' वृषला ' अधमाः शूद्रजातयः, तथा 'कृपणाः' क्लीबा अकिञ्चित्कराः श्रमणा भवन्ति, प्रव्रज्यां गृह्णन्तीति ।

ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिब्रूहिंति, नाइ ते परलोगस्स अट्ठाए किंचि वि सिलीसंति, ते दुखंति ते सोयंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिट्टंति ते परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्टण-परितप्पण-वह-बंधण-परिकिलेसाओ अपडिविरता भवंति। ते महया आरंभेणं ते महया समारंभेणं ते महया [आ]रंभसमारंभेणं विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं ओरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति।

व्याख्या—'ते इणमेवे'त्यादि, ते हि साधुवर्गापवादिनः सद्धर्मप्रत्यनीका 'इदमेव जीवितं' परापवादोद्घट्टनजीवितं 'धिग्जीवितं' साधुनिन्दापरायणं कुत्सितजीवितं [सम्प्रतिबृंहन्ति]—एतदेवासद्वृत्तजीवितं प्रशंसन्तीति, ते चेहलोके प्रतिबद्धाः साधुनिन्दाजीविनो मोहान्धाः साधूनपवदन्ति, न च ते साधूनामनुष्ठानं स्वल्पमपि 'श्लिष्यन्ति' समाश्रयन्ति, केवलं ते वचोभिः साधून् 'दुःखयन्ति' पीडामुत्पादयन्ति, तथा तेऽज्ञानान्धास्तत्कुर्वन्ति येनाधिकं शोचन्ते परानपि शोचयन्ति दुर्भाषितादिभिः शोकमुत्पादयन्ति, तथा ते परान् 'जूरयन्ति' गर्हन्ति तथा 'तिप्यन्ति' सुखात् च्यावयन्ति आत्मानं परांश्च, तथा अपुष्टधर्माणः असदनुष्ठानैः स्वतः पीड्यन्ते परांश्च पीडयन्ति, तथा ते पापेन कर्मणा 'परितप्यन्ते' अन्तर्दह्यन्ते परांश्च परितापयन्ति, तदेवं ते सद्वृत्तेष्वसन्तो दुःखनशोचनादिक्लेशादप्रतिविरताः सदा भवन्ति, एवम्भूताश्च सन्तस्ते महताऽऽरम्भेण महता समारम्भेण प्राणिपरितापनरूपेण तथोभाभ्यामप्यारम्भसमारम्भाभ्यां 'विरूपरूपैश्च' नानाप्रकारैः

सावद्यानुष्ठानैः पापकर्मकृत्यैरुदारान्मानुष्यकान् भोगभोगान् [ते] सावद्याऽनुष्ठायिनो भोक्तारो भवन्ति। एतदेव दर्शयति।

तं जहा—अन्नं अन्नकाले पाणं पाणकाले वत्थं वत्थकाले लेणं लेणकाले सयणं सयणकाले, [स]पुव्वावरं च णं ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा ण्हाए कंठे मालकडे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पियमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे अहत-वत्थपरिहिए चंदणो[क्खित्त]किन्नगायसरीरे महतिमहालियाए कूडागारसालाए महति महालयंसि सीहासणंसि इत्थीगुम्मसंपरिवुडे सव्वराइएणं, जोइणा य झियायमाणेणं महया हयनट्टगीयवाइय-तंतीतलतालतुडितघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं ओरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ।

व्याख्या—तद्यथा-अन्नमन्नकाले यथेप्सितं तस्य पापानुष्ठानात्सम्पद्यते, एवं पानवस्त्रशयनासनादिकमपि यथाकाले सर्वमपि सम्पद्यते, यद्यदा प्रार्थ्यते तत्तदा सम्पद्यते, इत्यभिलषितार्थप्राप्तिमेव लेशतो दर्शयति, तद्यथा-विभूत्या स्नातः तथा कृतं देवतादिनिमित्तं बलिकर्म येन स तथा, तथा कृतानि कौतुकान्यवतारणकादीनि तथा मङ्गलानि-दध्यक्षतचन्दनादीनि तथा दुःस्वप्नप्रतिघातकानि प्रायश्चित्तानि [येन स] कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तः, + तथा कल्पितमालामुकु[टी]ट (?) प्रति-

+ तथा "शिरसि स्नातः नानाविधविलेपनावलिप्तश्चे"ति बृहद्वृत्तौ। अत्र वृत्तिकृदभिप्रायेण मूले कतिचित्पदानां प्राक्पश्चात्क्र-मित्वमस्ति।

बद्धशरीरः [दृढावयवः], तथा ' वग्घारियं 'ति प्रलम्बितं ' श्रोणीसूत्रं ' कटिसूत्रं मल्लदामकलापः, × तदेवं स यथोक्तभूषणभूषितः ' महतिमहालियाए 'त्ति विस्तीर्णायां कूटाकारशालायां ' महतिमहालये ' विस्तीर्णे सिंहासने समुपविष्टः ' स्त्रीगुल्मेन ' युवतिजनेन सार्द्धमपरपरिवारेण ' सम्परिवृतो ' वेष्टितः, महता गीतवादित्रतन्त्र्यादिरवेणोदारान् मानुष्यकान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहरति ।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठंति ।

व्याख्या—तस्य च प्रयोजने समुत्पन्ने सति एकमपि पुरुषमाज्ञापयतो यावच्चत्वारः पञ्च वा पुरुषाः अनुक्ता एव समुपतिष्ठन्ते, ते च किं कुर्वाणाः ? एतद्दर्शयन्नाह—

भण[ह] देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं उवट्ठे[आचिट्ठा]मो ? किं भे हियं इच्छियं ? किं भे आसगस्स सदति ? । तमेव पासित्ता अणारिया एवं वदंति—देवे खलु अयं पुरिसे देवसिणाए खलु अयं पुरिसे देवजीवणिज्जे खलु[अयं]पुरिसे, अन्नेवि[य]णं उवजीवंति, तमेव पासित्ता आरिया वदंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे, अतिधूते

× " अहतं अखण्डितं वस्त्रं परिहितं येन स तथा, चन्दनेन ' उक्षितं ' सिक्तं ' गात्रं ' शरीरं शरीरावयवा यस्य स तथा, नानाविधविलेपनावलिप्त इत्यर्थः । " इति वृ० ।

अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहियाए यावि भविस्सइ।

व्याख्या—यथा स्वामिन्नाज्ञापय, भणत वयं, येन भवतोऽभ्येवमादिश्यन्ते, किं कुर्मः ? इत्यादि सुगमं, यावत् हृदयेप्सितमिति, तथा किञ्च 'भे' युष्माकं 'आस्यकस्य' मुखस्य 'स्वदते' स्वादु प्रतिभाति ? [अथवा] यदेव त्वदीयआस्यात् 'भवति' निर्गच्छति तदेव वयं कुर्मः। तथा तमेव राजानं तथाक्रीडमानं दृष्ट्वाऽन्येऽनार्याः एवं वदन्ति, तद्यथा—देवः खल्वयं पुरुषस्तथा 'देवस्नातको' देवश्रेष्ठो बहूनामुपजीव्यः। तथा तमेवासदनुष्ठायिनं दृष्ट्वा 'आर्याः' विवेकिनः—सदाचारा एवं ब्रुवते—अभिक्रान्तक्रूरकर्मा खल्वयं पुरुषो, हिंसादिप्रवृत्त इत्यर्थः। तथाऽसौ 'धूयते' रेणुवद्वायुना संसारचक्रवाले भ्राम्यते येन तद्धूतं—कर्म अष्टप्रकारं यस्य सोऽतिधूतः, तथा अतीवात्मनः पापैः कर्मभिः रक्षा यस्य स आत्मरक्षः, संसारे बहुभिः पापकर्मभिः बहुकालं स्थास्यतीति भावः, तथा दक्षिणदिग्गामी, यो हि क्रूरकर्मा साधुनिन्दापरायणः साधुदाननिषेधकः स दक्षिणदिग्गामुको भवति, दाक्षिणात्येषु नरकतिर्यङ्मनुष्याऽमरेषूत्पद्यते, 'नेरइए' इत्यादि, नरकेषु भवो नारकः, तथा कृष्णपाक्षिकः×, इदमुक्तं भवति—प्रायेण दिक्षु मध्ये दक्षिणा दिगप्रशस्ता, गतिषु नरकगतिः, पक्षयोः कृष्णपक्षः, तदस्य साधुप्रद्वेषमतेर्दानान्तरायविधायिनो दिगादिकं सर्वमप्रशस्तं दर्शितं, अन्यदपि यदप्रशस्तं गत्यादिकमबोधिलाभादिकं तद्योजनीयमस्येति। एतद्विपरीतस्य साधुप्रशंसावतः सदनुष्ठानपरस्य अदक्षिणगामुकत्वं सुदेवत्वं शुक्लपाक्षिकत्वं सुमानुषपातस्य सुलभबोधित्वमित्येवमादिकं सद्धर्मानुष्ठायिनो भवतीति। साम्प्रतमुपसंजिघृक्षुराह—

× "तथा आगामिनि काले नरकादुद्वृत्तो दुर्लभबोधिकश्चायं बाहुल्येन भविष्यति" इति बृहद्वृत्तौ।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिया वेगे अभिगि[ज्झं]हंति, अणुट्ठिया वेगे अभिगि[ज्झं]हंति, अभिझंझाउरा अभिगि(ज्झं)हंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले अपडिपुन्ने अणेयाउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अनिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे। एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु पढम(स्स) ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहि[ए]ज्जति (सू० १७)

व्याख्या—इत्येतस्य पूर्वोक्तस्य स्थानस्यैश्वर्यलक्षणस्य शृङ्गारमूलस्य साँसारिकस्य परित्यागबुद्ध्या 'एके' केचन विपर्यस्तमतयः पाषण्डिकोत्थानेनोत्थिताः परमार्थमजानाना 'अभिगिज्झंति' त्ति आभिमुख्येन लुभ्यन्ते-लोभवशगा भवन्तीत्यर्थः। तथा 'एके' केचन साम्प्रतेक्षिणस्तस्मात्स्थानादनुपस्थिता गृहस्था एव सन्तः 'अभिझंझ' त्ति, झञ्झा-तृष्णा, तदातुराः सन्तोऽर्थेषु अत्यन्तं लुभ्यन्ते, अतो ह्येतत्स्थानमनार्यं महापुरुषैरनाचीर्णं, तथा 'अकेवलियं' अशुद्धमिति, अस्मिन् स्थाने न केवलज्ञानावाप्तिरिति भावः। तथाऽपरिपूर्णमितरपुरुषाचीर्णत्वात्तथा सद्गुणविरहात्तुच्छं, तथाऽनैयायिकं-न्यायमार्गाद्बहिः, [असंशुद्धं-समलं] तथा 'असल्लगत्तणं' (अशल्यगत्वं-) इन्द्रियासंवरणरूपं अथवा न शल्यकर्तनं, न सिद्धिमार्गः, तथाऽशेषकर्मक्षयलक्षणायाः मुक्तेर्न मार्गस्तथा अनिर्वाणमार्गः, तथा अनिर्याणमार्गस्तथा न सर्वदुःखानां प्रक्षीणमार्गः। कुत एवम्भूतं तत्स्थानं ? इत्याशङ्क्याह—एतत्स्थानमनार्यमेकान्तेन मिथ्यात्वरूपं, अत एव असाधुः, असदाचारत्वान्न ह्ययं सत्पुरुषसेवितः पन्था, येनास्मिन्मार्गे विपर्यस्ताः प्रवर्तन्ते, एतावताऽयं प्रथम[स्य] स्थान-

स्याधर्मपक्षस्य पापोपादानभूतस्य ' विभङ्गो ' विशेषः स्वरूपमिति । साम्प्रतं द्वितीयं धर्मोपादानभूतं पक्षमाश्रित्याह—

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगइया मणुस्सा भवंति, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे नीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिगहियाइं भवंति, एसो आलावगो जहा पुंडरीए तहा नेयवो, जाव सवओ (वसंता)सव(त्ताए)याओ (?) परिनिवुडे त्ति बेमि, एस ठाणे आरिए केवले जाव सवदुक्खप्पहीण-मग्गे एगंतसम्मे साहू दोच्चस्स ठाणगस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते ॥ (सू० १८) ॥

व्याख्या—अयमालापकः सुगम एव, यथा पुण्डरीकाध्ययने तथेहापि सर्वं निरवयवं भणितव्यं, यावत्ते ' एवं ' पूर्वोक्तेन प्रकारेण सर्वेभ्यः पापस्थानेभ्य उपशान्ताः, तथा अत एव सर्वात्मतया परिनिर्वृता इत्यहमेवं ब्रवीमि । तदेव-मेतत्स्थानं कैवलिकं प्रतिपूर्णं नैयायिकमित्यादि प्राग्वद्विपर्ययेण नेयं, यावद्द्वितीयस्य स्थानस्य धार्मिकस्यैष ' विभङ्गः ' स्वरूपव्याख्यानमिति । साम्प्रतं धर्माधर्मयुक्तं तृतीयस्थानमाश्रित्याह—

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जति—जे इमे भवंति आरण्णिया आव-

सहिया गामणियंतिया कण्हुई राहस्सिया, जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो २ एलमूयत्ताए [तमूत्ताए] पच्चायंति। एस ठाणे अणारिए अकेवलिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभङ्गे एवमाहिते ॥ [सू० १९]

व्याख्या—अथापरस्य तृतीयस्य स्थानकस्य मिश्राख्यस्य विभङ्गः–स्वरूपमाख्यायते, अत्राधर्म्मपक्षेण युक्तो धर्म्मपक्षो मिश्र इत्युच्यते, तत्राधर्मस्य प्राचुर्यादधर्मपक्ष एव द्रष्टव्यः, एतदुक्तं भवति–यद्यपि मिथ्यादृष्टयः काञ्चित्तथाप्रकारां प्राणातिपातादिनिवृत्तिं कुर्वन्ति तथाप्याशयाविशुद्धत्वात् अभिनवे पित्तोदये सति शर्करामिश्रक्षीरपानवद्दूषरप्रदेशवृष्टिवद्विवक्षितकार्यासाधकत्वान्निरर्थकतामापद्यते, तथा मिथ्यात्वानुभावान्मिश्रपक्षोऽप्यधर्मपक्ष एवावगन्तव्यः। [ए]तदेव दर्शयितुमाह–ये इमे आरण्यकाः–कन्दमूलफलाशिनस्तापसाः वनवासिनो, ये च आवसथिकाः–गृहिणस्ते च कुतश्चित्पापस्थानान्निवृत्ता अपि प्रबलमिथ्यात्वोपहतबुद्धयः, ते च षष्ठ्युपवासादिना महता कायक्लेशेन देवगतयः केचन भवन्ति, तथापि ते आसुरीयेषु स्थानेषु किल्बिषिकेषु उत्पद्यन्ते, इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयं, यावत्तच्च्युता मनुष्यभवं प्रत्यायाता एलकमूकत्वेन तमोऽन्धतया जायन्ते, तदेवमेतत्स्थानमनार्यं अकेवलं–असम्पूर्णं अनैयायिकमित्यादि यावदेकान्तमिथ्याभूतं सर्वथैवैतदसाध्विति तृतीयस्थानस्य मिश्रस्यायं 'विभङ्गः–स्वरूपमाख्यातमिति। उक्तान्यधर्म्मधर्ममिश्रस्थानानि, साम्प्रतं तदेव विशेषेण कथयति–

अहावरे पढम[स्स] ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति, इह खलु पाईणं वा ४

संतेगतिया मणुस्सा भवंति–[गिहत्था] महेच्छा महारंभा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणु-[ण्णा]या अधम्मिट्ठा अहम्मक्खाई अहम्म[पायजीविणो]जीवी अहम्मपलोई अहम्मपलज्जणा अहम्मसीलसमुदायारा अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ।

व्याख्या—अथापरोऽन्यः प्रथमस्य स्थानस्य अधर्म्मपक्षस्य 'विभङ्गो' विभाग एवमाख्यायते, इह खलु मनुष्या एवं-स्वभावा भवन्तीति, एते च प्रायो गृहस्था एव भवन्तीत्याह 'गिहत्था' (इत्यादि०)। 'महेच्छा' महती–राज्यविभव-परिवारादिका सर्वातिशायिनी 'इच्छा' मनःप्रवृत्तिर्येषां ते महेच्छाः, तथा महारम्भाः–कृषिकरणादिभ्योऽविरताः, तथा महापरिग्रहाः–द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिपरिग्रहोपेताः, अत एवाधार्मिकाः, तथाऽधर्मिष्ठा–निस्त्रिंशकर्म्मकारित्वादधर्म्म-बहुलाः, तथाऽधर्म्मे कर्त्तव्ये 'अनुज्ञा' अनुमोदनं येषां ते अधर्म्मानुज्ञाः, एवमधर्म्ममाख्यातुं शीलं येषां ते तथा, [एवम-धर्मप्रायजीविनः]। एवमधर्म्ममेव प्रलोकितुं शीलं येषां ते अधर्म्मप्रलोकिनः, तथाऽधर्म्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यन्त इत्यधर्म्म[प्र]रक्ताः, तथाऽधर्म्मशीला-अधर्म्मस्वभावा, तथाऽधर्म्मात्मकः समुदाचारो–यत्किञ्चनानुष्ठानं येषां ते अधर्मशील-समुदाचाराः, तथा 'अधर्म्मेण' पापेन 'वृत्तिं'र्निर्वाहो येषां ते तथा, एवंविधाः विहरन्तः कालमतिवाहयन्ति । पापानु-ष्ठानमेव लेशतो दर्शयितुमाह—

हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहितपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिया उक्कुंचणवंचणमायानिय-

डिकूडकवडसातिसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वला दुप्पडियाणंदा असाहू सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कोहाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया, सव्वाओ ण्हाणुमद्दणवण्ण[ग]गंधविलेवणसद्दफरिसरस-रूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसीयासंद-माणियासयणासणजाणवाहणभोगभोयणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कयविक्कयमासद्धमासरूवगसंववहाराओ अप्पडिविरया [जावज्जीवाए], सव्वाओ हिरण्णसुवण्ण-धणधन्नमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालाओ अप्पडिविरया [जावज्जीवाए], सव्वाओ कूडतुलकूड-माणाओ अप्पडिविरया [जावज्जीवाए], सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया [जाव-ज्जीवाए], सव्वाओ करणकारावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ पयणपयावणाओ अप्प-डिविरया [जावज्जीवाए], सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणताडणवहबंध[ण]परिकिलेसाओ अप्पडिविरता जावज्जीवाए, जेआवण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिता कम्मंता परपाणपरितावणकरा जे

अणारिएहिं कज्जंति, ततो वि अप्पडिविरया जावज्जीवाए—

व्याख्या—ते अनार्याः स्वत एव हननादिकाः क्रियाः कुर्वाणा अपरेषामपि एवमेवोपदेशं ददति । तत्र हननं दण्डादिभिस्तत्कारयन्ति । तथा छिन्दन्ति कर्णादिकं, भिन्दन्ति शूलादिना 'विकर्त्तकाः' प्राणिनां चर्मापनेतारः अत एव लोहितपाणयः, तथा [चण्डाः] । 'रौद्रा'निस्त्रिंशाः, क्षुद्राः क्षुद्रकर्मकारित्वात्, तथा साहसिकाः असमीक्षितकारित्वात्, तथोत्कुञ्चनवञ्चनमायानिकृतिकूटकपटादिभिः सहातिसम्प्रयोगो-गाढ्यं, तेन बहुलास्तत्प्रचुराः, एते चोत्कुञ्चनादयो मायापर्यायाः, इन्द्रशक्रादिवत् कथञ्चित्क्रियाभेदेऽपि द्रष्टव्याः + । तथा दुःशीलाश्चिरप्रचरिता अपि क्षिप्रं विसंवदन्ति, दुःखानुनेयदारुणस्वभावा इत्यर्थः । तथा दुष्टव्रताः मांसभक्षणव्रतकालसमाप्तौ प्रभूततरसत्त्वोपघातेन मांसप्रदानं, अन्यदपि नक्तभोजनादिकं दुष्टव्रतमिति, तथा दुःखेन प्रत्यानन्द्यन्ते [हर्षं प्राप्यन्ते] दुष्प्रत्यानन्दाः, दुराराध्या इत्यर्थः, उपकारेऽपि दोषमेव गृह्णन्ति, यत एवमतोऽसाधवस्ते, पापकर्मकारित्वात्, तथा यावज्जीवतया सर्वस्मादपि प्राणातिपातादविरताः, लोकनिन्दनीयात् स्त्रीहत्याबालब्राह्मणऋषिघातादेरप्यविरताः, एवं मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहक्रोधमानमायालोभप्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशुन्यपरपरिवादरत्य-

---

+ "तत्र शूलाद्यारोपणार्थमूर्ध्वं कुञ्चनमुत्कुञ्चनं । वञ्चनं—प्रतारणं, यथाऽभयकुमारः प्रद्योतगणिकाभिर्धर्मवञ्चनया वञ्चितः । माया—वञ्चनबुद्धिः, प्रायो वणिजामिव । निकृतिस्तु वक्रवृत्त्या देशभाषाविविपर्ययकरणं । कूटं तुलामानादेर्न्यूनाधिककरणं । कपटं—यथाऽऽषाढभूतिना वेषपरावृत्त्याऽऽचार्योपाध्यायसकाशादकारमार्थं वारंवारं मोदका लब्धाः ।" इति हर्ष० ।

रतिमायामृषामिथ्यादर्शनशल्यादिभ्योऽसदनुष्ठानेभ्यो यावज्जीवयाऽप्रतिविरता भवन्तीति, तथा सर्वस्मात् स्नानोद्वर्तनवर्णक-विलेपनशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमाल्याऽलङ्कारात्—कामाङ्गात् मोहजनितादप्रतिविरताः यावज्जीवया, तथा सर्वतः शकटरथादेर्यान-विशेषादिकात् प्रविस्तरविधेः परिकररूपात् परिग्रहादप्रतिविरताः, तदेवमन्यस्मादपि वस्त्रादेः परिग्रहादुपकरणभूताद-विरतास्तथा 'सर्वतः' सर्वस्मात् क्रयविक्रयाभ्यां करणभूताभ्यां यो माषकार्द्धमाषकरूपककार्षापणादिभिः पण्यविनिमया-त्मकः संव्यवहारस्तस्मादविरताः, यावज्जीवयेति, तथा 'सर्वतः' सर्वस्मात् हिरण्यसुवर्णादेः प्रधानपरिग्रहादविरतास्तथा कूटतुलकूटमानादेरविरताः, तथा सर्वतः कृषिपाशुपाल्यादेर्यत् स्वतः करणं अन्येन यत्किञ्चित्कारयन्ति तस्मादविरतास्तथा पचनपाचनतस्तथा खण्डनकुट्टनपिट्टनतर्जनताडनवधबन्धनादिना यः परिक्लेशः प्राणिनां तस्मादविरताः। साम्प्रतमुप-संहरति—ये चान्ये तथाप्रकाराः परपीडाकारिणः सावद्याः कर्मसमारम्भाः 'अबोधिकाः' बोधिलाभविघातिनः, तथा [परप्राण]परितापनकराः गोग्राहबन्दीग्रहग्रामघातात्मकाः, ये अनार्यैः क्रियन्ते, ततोऽप्रतिविरताः यावज्जीवयेति। पुन-रन्यथा बहुप्रकारमधार्मिकपदं प्रतिपिपादयिषुराह—

से जहा नामए केइ पुरिसे कलममसूरतिलमुग्गमासणिप्फावकुलत्थआलिसंदगपलिमंथ-गमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तिरवट्टगलावग-कपोतकविंजलमियमहिसवराहगाहगोहकुम्मसिरीसिवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजंति,

जावि य से बाहिरिया परिसा भवति, तं जहा—

व्याख्या—यथा नाम अस्मिन् विचित्रे संसारे केचनैवम्भूताः पुरुषाः, ये कलममसूरतिलमुद्गादिषु पचनपाचनादिकया क्रियया स्वपरार्थमयताः क्रूराः मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति, निरपराधेष्वपि मिथ्यादण्डं विदधति, तथैवमेव निष्प्रयोजनं तथाप्रकाराः पुरुषा निर्दयाः जीवोपघातनिरतास्तित्तिरवर्त्तकलावकादिषु जीवनप्रियेषु प्राणिषु अयताः—क्रूरकर्माणो नराः, मिथ्यादण्डं प्रयुञ्जन्ति, तेषां क्रूरश्रियां "यथा राजा तथा प्रजा" इति वचनात् परिवारोऽपि तथाभूत एव क्रूरो भवतीति, तथा दर्शयितुमाह—'जावि य से' इत्यादि, यापि च तेषां बाह्या पर्षद्भवति, तद्यथा—

दासेइ वा पेसेइ वा भयएति वा भाइल्लेति वा कम्मकरएति वा भोगपुरिसेति वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि वा अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निव्वत्तेति। तं जहा—इमं दंडेह इमं मुंडेह इमं तज्जेह इमं तालेह इमं अंदुयबंधणं करेह इमं नियडबंधणं करेह इमं हडिबंधणं करेह इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोडियं करेह, इमं हत्थ-छिन्नयं करेह इमं पायछिन्नयं करेह इमं कन्नछिन्नयं करेह इमं नक्कउट्ठसीसमुखछिन्नयं करेह, वेयगच्छहियं अंगच्छहियं पक्खोडियप [पक्खाफोडि] यं करेह इमं नयणुप्पाडियं करेह दसणवसण-

जिब्भुप्पाडियं करेह, उल्लंबियं ऊ[घ]सियं करेह घोलियं करेह सूलाइयं करेह [सूला]भिन्नयं खारवत्तियं दब्भवत्तियं करेह सीहपुच्छियगं करेह वसहपुच्छियगं करेह दवग्गिदड्ढ(यं)गं कागिणिमंसखावियंगं भत्तपाणनिरुद्धगं इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह इमं अन्नयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह—

व्याख्या—दासः 'प्रेष्यः' प्रेषणयोग्यो 'भृतको' वेतनेनोदकाद्यानयनविधायी, तथा भागिको यः षष्ठांशादिलाभेन कृष्यादौ व्याप्रियते, तथा कर्म्मकरः प्रतीतः [तथा नायकाश्रितः कश्चिद्भोगपरः], तदेवं ते दासादयोऽन्य(तरस्मिन् ?)स्य लघावप्यपराधे शब्दाश्रवणादिके गुरुतरं दण्डं प्रयुञ्जन्ति प्रयोजयन्ति च। स च नायकस्तेषां दासादीनां षाक्षपर्भूतानामन्य[तर]स्मिल्लघावप्यपराधे शब्दाश्रवणादिके गुरुतरं दण्ड-प्रयुंक्ते, तद्यथा-इमं दासं सर्वस्वापहारेण दण्डयत यूयमित्यादिसूत्रसिद्धं यावदिममन्यतरेणाशुभेन कुत्सितमारेण व्यापादयत यूयं।

जावि य से अब्भिंतरिया परिसा भवति, तं जहा—मायाति वा पिताति वा भायाति वा। भइणीति वा भज्जाइ वा पुत्ताइ वा सुण्हाइ वा धूयाइ वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं निवत्तेइ, सीओदगवियडंसि उच्छोलित्ता भवइ जहा मित्तदोसवत्तिए

[जाव] अहिए परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिट्टंति परितप्पंति, ते दुक्खण-सोयणजूरणतिप्पणपिट्टणपरितावणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ।

व्याख्या—याऽपि च क्रूरकर्मवतामभ्यन्तरा पर्षद्भवति, तद्यथा-मातापित्रादिका, मित्रदोषप्रत्ययिकक्रियास्थानवच्चेयं यावदहितोऽ[यम]स्मिंल्लोके इति, तथाहि-आत्मनोऽपथ्यकारी परस्मिंल्लोके, तदेवं ते मातापित्रादीनां स्वल्पापराधिनामपि गुरुतरदण्डापादनतो दुःखमुत्पादयन्ति तथा नानाविधैरुपायैस्तेषां शोकमुत्पादयन्तीत्येवं प्राणिनां बहुप्रकारपीडोत्पादका यावद्वधबन्ध(न)परिक्लेशादप्रतिविरता भवन्ति । ते च विषयासक्ततयैतत्कुर्वन्तीत्येतद्दर्शयितुमाह—

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु (भोग)भोगाइं पसमु[पविसु]इत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं कूराइं कम्माइं ओसन्नाइं संभा(रकडेण)रेणं कम्मेण, से जहा नामए अयगोलेति वा सेलगोलेति वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए वज्जबहुले धूतबहुले पंकबहुले वेरबहुले अयसबहुले अप्पत्तिय० दंभ० नियडि० सादिबहुले ओसन्नतसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवइत्ता

अहे णरगतलपइट्ठाणे भवति (सू० २०) ॥

व्याख्या—एवमेव पूर्वोक्तस्वभावा, एवं ते निष्कृपा निरनुक्रोशा बाह्याभ्यन्तरपर्षदोऽपि कर्णनासाविकर्तनादिना दण्डपातनस्वभावाः स्त्रीप्रधानाः कामास्तेषु मूर्च्छिता गृद्धा ग्रथिता अध्युपपन्नाः, ते च ते भोगासक्ता व्यपगतपरलोकभयाः यावद्वर्षाणि चतुःपञ्च षड्दश वा दश वाऽल्पतरं वा प्रभूततरं वा कालं भुक्त्वा भोगभोगान् तथा परपीडोत्पादनतो वैरानुबन्धान् प्रविसूयो-त्पाद्य तथा सञ्चयित्वा 'बहूनि' प्रभूततरकालस्थितिकानि 'क्रूराणि' दारुणानि नरकादिषु यातनास्थानेषु क्रकचपाटनतप्तत्रपुपानात्मकानि कर्म्माण्यष्टप्रकाराणि बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थानि विधाय तेन च सम्भारकृतेन कर्म्मणा प्रेर्यमाणास्तत्कर्मगुरवो वा नरकतलप्रतिष्ठाना भवन्ति । अस्मिन्नर्थे सर्वलोकप्रतीतं दृष्टान्तमाह—'से जहा नामए अयगोले' इत्यादि, तद्यथा नाम 'अयोगोलको' लोहगोलक [शिलागोलको-वृत्ताश्मशकलं वा] उदके प्रक्षिप्तः सन् सलिलतलमतिवर्त्त्या-तिलङ्घ्याऽधोधरणितलप्रतिष्ठानो भवति । अथ दार्ष्टान्तिकमाह—'एवमेवे'त्यादि, यथाऽसावयोगोलकः शीघ्रमेवाधो यात्येवमेव तथाप्रकारः पुरुषजातः, तमेव लेशतो दर्शयति—'वज्जबहुले' वज्रवद्गुरुत्वात्कर्म, तद्बहुलः, बध्यमानकर्मगुरुः, तथा धूयत इति [धूतं—] प्राग्बद्धं कर्म्म, तत्प्रचुरः, तथा 'पङ्कं' पापं तद्बहुलः, तथा वैरबहुलः, तथा 'अपत्तिय'ंति अप्रत्ययबहुलः, तथा 'मायाबहुलः' कपटबहुलः, तथा निकृति-र्माया वेषभाषापरावृत्तिच्छद्मना परद्रोहबुद्धिस्तन्मयः, तथा सातिबहुलः, हीनद्रव्यस्य सातिशयेन द्रव्येण संयोजनं सातिस्तद्बहुलः—तत्करणप्रचुरः, तथा अयशो बहुलः, स एवम्भूतः पुरुषः कालमासे कालं कृत्वा नरकतलप्रतिष्ठानो भवति ।

अथ नरकस्वरूपं निरूपयति—

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिता निच्चंधकारतमसा ववगयगह-चंदसूरनक्खत्तजोइसप्पहा मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला असुई विस्सा परमदुब्भिगंधा कण्हा अगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा नरएसु वेदणाओ। नो चेव णं नरएसु नेरइया निद्दायंति वा पयलायंति वा सुइं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंति, ते णं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं निरयवेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ (सू० २१)

व्याख्या—'ते णं नरगा' इत्यादि, ते नरकाः सीमन्तकादयः, बाहुल्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्ये वृत्ता बहिरपि चतुरस्राः [अधश्च क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिताः ×] नित्यान्धकारतमसाः–मेघच्छन्नाम्बरतलकृष्णपक्षरजनीतमोबहुलाः, तथा व्यपगतचन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रज्योतिष्पथो येषां ते तथा, तथा मेदवसामाँसरुधिरपूयपटलाः + तथा अशुचयो विष्ठासूक्ष्मक्लेदप्रधानाः, अत एव

× "एतच्च संस्थानं पुष्पावकीर्णानाश्रित्योक्तं, तेषामेव प्रचुरत्वात्, आवलिकाप्रविष्टास्तु वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रसंस्थाना एव भवन्ति" इति बृहद्वृत्तौ।

+ "तैर्लिप्तानि–पिच्छिलीकृतानि 'अनुलेपनतलानि' अनुलेपनप्रधानानि तलानि येषां ते तथा" इति बृहद्वृत्तौ।

'निश्राः' कुथितमांसादिकल्पकर्दमविलिप्ताः, एवं परमदुर्गन्धाः-[कुथितगोमायु]कलेवरादप्यसह्यगन्धाः, तथा कृष्णाऽग्नि-वर्णाभाः रूपतः, स्पर्शतस्तु 'कर्कशः' कठिनो वज्रकण्टकादप्यधिकतरः स्प[र्शो येषां ते तथा]र्शाः, तथा 'दुस्सहाः' अतीव दुःखेन अधिसह्यन्ते, किमिति? यतस्ते नरकाः-पञ्चानामपीन्द्रियार्थानामशोभनत्वादशुभाः, तत्र च सत्त्वानामशुभकर्म-कारिणामुग्रदण्डपातिनां तीव्रा-अतिदुःसहा वेदनाः प्रादुर्भवन्ति। ते च नारकास्तया वेदनया अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न निद्रायन्ते न प्रचलायन्ते; * वेदनाऽभिभूतत्वात्कुतस्तेषां निद्रालाभो भवतीति दर्शयति, तीव्रा-मुज्वलामित्यादिविशेषण-विशिष्टां यावद् वेदनां वेदयन्त्यनुभवन्ति। पुनरपरं दृष्टान्तमाह—

से जहा नामए (केइ) रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाते मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ निन्नं जओ विसमं जओ दुग्गं तओ पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते गब्भातो गब्भं जम्मातो जम्मं माराओ मारं नरगाओ नरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए नेरईए कण्हपक्खिए आग-मिस्साणं दुल्लहबोहिए यावि भवति, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव [अ]सव्वदुक्खप्पहीण-मग्गे एगंतमिच्छे असाहू, पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विहंगे एवमाहिए॥ [सू० २२]

---

* "श्रुतिं वा रतिं वा धृतिं वा मतिं वा नोपलभन्ते" इति हर्ष०।

व्याख्या—सुगमैव स्वयमेवाभ्यूह्या +

अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वाओ पाणा-(ति)यवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जाव जेयावन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए ।

व्याख्या—अथाऽपरस्य द्वितीयस्य स्थानस्य 'विभङ्गो' विभागः स्वरूपमेवं—वक्ष्यमाणनीत्याऽऽख्यायते, तद्यथा—इह खलु प्राच्यादिदिक्षु मध्ये अन्यतरस्यां दिशि 'सन्ति' विद्यन्ते, ते चैवम्भूता भवन्तीति, त[द्य]था—न विद्यते सावद्य

+ "तद्यथा नाम कश्चिद्वृक्षः पर्वताग्रे जातो मूलछिन्नः शीघ्रं यथा निम्नं पतति, एवमसावप्यसाधुकर्मकारी तत्कर्मवातेरितो-वात-प्रेरितः सन् शीघ्रमेव नरके पतति, ततोऽप्युद्वृत्तो गर्भाद्गर्भमवश्यं याति, न तस्य किञ्चिच्छरणं भवति, यावदागामिन्यपि कालेऽसौ दुर्लभधर्मप्रतिपत्तिर्भवतीति। साम्प्रतमुपसंहरति—'एस ठाणे' इत्यादि, तदेतत्स्थानमनार्यं पापानुष्ठानपरत्वाद्यावदेकान्तमिथ्यारूपमसाधु। तदेवं प्रथमस्याधर्मपाक्षिकस्य स्थानस्य 'विभङ्गो' विभागः स्वरूपमेव व्याख्यातः।" इति प्रत्यन्तरेऽस्य सूत्रस्य व्याख्योपलभ्यते ।

आरम्भो येषां ते अनारम्भाः, तथा 'अपरिग्रहाः' निष्किञ्चना, धर्म्मेण चरन्तीति धार्म्मिकाः, यावद्धर्म्मेणैवात्मनो वृत्तिं परिकल्पयन्ति, तथा सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः सुसाधवः सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरताः, एवं यावत्परिग्रहाद्विरता इति, ये चान्ये तथाप्रकाराः सावद्यारम्भा यावद्बोधिकारिणस्तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि विरता इति ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह—

से जहा नामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया एसणासमिया आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमिया उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिया, मणसमिया वय-समिया कायसमिया, मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता, गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी, अकोहा अमाणा अमाया अलोभा, संतो पसंता उवसंता परिनिव्वुडा, अणासवा अग्गंथा छिन्नसोया निरु-वलेवा, कंसपाईव मुक्कतोया संखो इव निरंजणा जीवो इव अप्पडिहयगई गगणतलं पिव निरालंबणा वाउरिव अप्पडिबद्धा सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं पिव निरुवलेवा कुम्मो इव गुत्तिंदिया विहग इव विप्पमुक्का खग्गिविसाणं व एगजाया भारंडपक्खीव अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसहो इव जातथामा सीहो इव दुद्धरिसा मंदरो इव निप्पकंपा सागरो इव गंभीरा चंदो इव

सोमलेसा सूरो इव दित्ततेया जच्चकंचणगं व जातरूवा वसुंधरा इव सव्वफासविसहा सुहुतहुयासणो विव तेयसा जलंता। × नत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थ वि पडिबंधे, से य पडिबंधे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—अंडएति वा पोयएति वा उग्गहेइ वा पग्गहेइ वा, जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति तन्नं तन्नं दिसं अप्पडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अ[ग]प्पगंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तेसि णं भगवंताणं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था, तं जहा—चउत्थभत्ते

× "नास्ति तेषां कुत्रचित्प्रतिबन्धः, स च प्रतिबन्धश्चतुर्विधस्तद्यथा—अण्डजो हंसादि. अण्डकं वा मयूराण्डं क्रीडामयूरादिहेतुः, स्याच्चेत तत्र प्रतिबन्धः। पोतजे हस्त्यादौ पोतके वा शिशुत्वात्प्रतिबन्धः स्यात्। अथवा 'अंडजोइ वा बोंडजोइ वा' इति पाठान्तरं। अण्डजं—सणिकादिवस्त्रं, बोण्डजं—कार्पासं वस्त्रं, तत्र प्रतिबन्धः स्यात्। 'उग्गहेइ वा' अवगृहीतं—परिवेषणार्थमुत्पाटितं भक्तपानं, प्रगृहीतं—भोजनार्थमुत्पाटितं तदेव, अथवा अनवमद्दिकं वसतिपीठफलकादि औपमद्दिकं वा दण्डकाद्युपविजातं, प्रगृहीतं तु रजोहरणाद्यौघिकोपधिरूपं, तत्र प्रतिबन्धः स्यात्। 'जण्णं'ति यां[यां] दिशमिच्छन्ति विहर्तुं तांतां दिशं विहरन्ति। किम्भूताः? अप्रतिबद्धाः शुचिभूता—भावशुद्धिमन्तः श्रुतिभूता वा—प्राप्तसिद्धान्ताः। लघुभूता—अल्पोपधयोऽगौरवाश्च, अनल्पग्रन्था—बह्वागमा, न विद्यते आत्मनः सम्बन्धी ग्रन्थो—हिरण्यादिर्येषां तेऽनात्मग्रन्था इति वा" इति हर्षे०।

छट्ठभत्ते अट्ठमभत्ते दसमभत्ते दुवालसमभत्ते चोद्दसमभत्ते, अद्धमासिए (भत्ते) मासिए (भत्ते) दोमासिए तिमासिए चउम्मासिए पंचमासिए छम्मासिए, अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरगा (निक्खित्त-चरगा उक्खित्त)निक्खित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा लूहचरगा समुयाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठ-चरगा तज्जातसंसट्ठचरगा, दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया, पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया, भिक्खला-भिया अभिक्खलाभिया, अन्नातचरगा *अन्नगिलायचरगा उवनिहिया, +संखादत्तिया परिमिय-

---

* नास्त्येतच्चिह्नमध्यगतः पाठः सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु ।

+ "सङ्ख्याप्रधाना दत्तयो येषां ते तथा। परिमित–अर्द्धपोषादि(?) (पिण्डपात–आहार)लाभो येषामस्ति ते तथा। 'सुद्धेसणिया' शुद्धैषणाः, शुद्धस्य वा निर्व्यञ्जनस्य भक्तादेरेषणा येषामस्ति ते[तथा]। अन्तप्रान्तं–वल्लचनकादिः, स आहारो येषां ते तथा। विरसं नीरसं–शीतलीभूतं। रूक्षाहाराः। 'अंबलिया' आचाम्लं–ओदनकुल्माषादि, तेन चरन्तीति। निर्विकृतिकाः–घृतादिविकृतित्यागिनः। अमद्यमांसाशिनः–मद्यमांसं नाश्नन्तीति। 'नो नियाम'त्ति न नित्यं रस भोजिनः। 'नेसज्जिया' निषद्यायुतायां भूमौ उपविशनं, तया चरन्तीति नैषद्यिकाः। सिंहासननिविष्टस्य भून्यस्तपादस्य सिंहासनापनोदे सति यादृशमवस्थानं, तद्यस्यास्ति स वीरासनिकः। दण्डस्येवायतं–आयामो येषां ते दण्डायतिकाः। लगण्डं–वक्रकाष्ठं, तद्वत् शेरते ये ते लगण्डशायिनः,

पिंडवाइया, सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा तुच्छाहारा, अंतजीवी पंतजीवी, आयंबिलिया पुरमड्डिया निव्विगइया, अमज्जमंसासिणो नो निकाम[नो नियाग]रसभोई ठाणाइया पडिमाठाणाइया उक्कुडुआसणिया नेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाइणो-[आयावगा] अवाउडा अगत्तया अकंडुया आनिट्ठुहा* धुतकेसमंसुरोमनहा, सव्वगायपडिकम्म-विप्पमुक्का चिट्ठंति । [ते णं] एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं[पच्चक्खंति],पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे मुंडभावे अण्हाण[भावे]गे(?) अदंतवणगे अच्छत्तए अणोवाहणए, भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धावलद्धे माणावमाणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ

पार्ष्णिका शिरश्च वा (?) भूमौ लगति तथा शयनं कुर्वन्तः । आतापका–आतापनामाहिणः । 'अवाउडा' अप्रावृताः–प्रावरणवर्जकाः । 'अणिट्ठुहा' अनिष्ठीवनाः । " इति हर्षकुलीयदीपिकायाम् ।

तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेंति, आराहित्ता चरमेहिं ऊसासनीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुन्नं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडिंति, समुप्पाडित्ता कालमासे कालं किच्चा तत्तो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति । एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति, अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं [कालमासे]कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढिएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु ।

व्याख्या—+ इत्यादिसाधुवर्णकः प्राक्तनः सर्वोऽपि पाठसिद्ध एव, सुगमत्वात्, वृहट्टीकाकारेण न व्याख्यातोऽत्रा-

---

+ इतः प्राक् प्रत्यन्तरे निम्नप्रकारेणोपलभ्यते वृत्तिपाठः—" सुगम एव, नवरं विशेषः—' उक्खित्तचरए ' उत्क्षिप्तं–स्वप्रयोजनाय पाकभाजनादुद्धृतं, तदर्थमभिग्रहतश्चरति–तद्गवेषणाय गच्छतीत्युत्क्षिप्तचरकः । ' निक्खित्तचरए 'त्ति निक्षिप्तं–पाकभाजनादनुद्धृतं । ' उक्खित्त–निक्खित्तचरए 'त्ति पाकभाजनादुत्क्षिप्तं तत्र वाऽन्यत्र च स्थाने (निक्षिप्तं) यत्तदुत्क्षिप्तनिक्षिप्तं । ' संसट्ठचरए 'त्ति संसृष्टेन–खरण्टितेन हस्तादिना दीयमानं संसृष्टमुच्यते, तच्चरति यः स तथा । ' असंसट्ठचरए 'त्ति [तद्विपरीतमसंसृष्टं, तेन चरति । ' तज्जाय 'त्ति] तज्जातेन देयद्रव्याविरोधिना यत्संसृष्टं हस्तादि, तेन दीयमानं यश्चरति स तथा । ' अन्नायचरए 'त्ति

प्यत एव न लिखितः। अन्यच्च–विशेषार्थिना औपपातिकमाचाराङ्गसम्बन्धिप्रथमस्रुपाङ्गं, तत्र च साधुगुणाः प्रबन्धेन व्यावर्ण्यन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण द्रष्टव्यमिति। यथा एवंविधाः साधवः * सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्ता–निष्प्रतिकर्मशरीरास्तिष्ठन्तीति। तथोग्रविहारिणः प्रव्रज्यापर्यायमनुपाल्य आबाधारूपे रोगातङ्के समुत्पन्ने अनुत्पन्ने वा भक्तप्रत्याख्यानं विदधति। किं बहुनोक्तेन? यत्कृतेऽयमयोगोलकवन्निरास्वादः करवालधारामार्गवद्दुरध्यवसायः श्रमणभावोऽनुपाल्यते तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमाराध्याऽव्याहतमेकमनन्तं केवलज्ञानमवाप्नुवन्ति, केवलज्ञानावाप्तेरूर्ध्वं सर्वदुःखविमोक्षणलक्षणं मोक्षमवाप्नुवन्ति। एके पुनरेकया अर्चया–एकेन शरीरेण एकस्माद्वा भवात्सिद्धिगतिं गन्तारो भवन्ति, अपरे

अज्ञातो–ऽनुपदर्शितस्वाजन्यादिभावः संश्चरति यः स तथा। 'दिट्ठलाभिए'त्ति दृष्टस्यैव भक्तादेर्दृष्टाद्वा–पूर्वोपलब्धाद्दायकाल्लाभो यस्यास्ति स दृष्टलाभिकः। 'अदिट्ठलाभिए' तत्रादृष्टस्यापि अपवरकादिमध्यान्निर्गतस्य श्रोत्रादिभिः कृतोपयोगस्य भक्तादेरदृष्टाद्वा–पूर्वमनुपलब्धाद्दायकाल्लाभो यस्यास्ति स तथा। 'पुट्ठलाभिए'त्ति पृष्टस्यैव 'हे साधो! किं ते दीयते?' इत्यादिप्रश्नितस्य यो लाभो यस्यास्ति स तथा। 'अपुट्ठलाभिए'त्ति [पृष्टलाभिकविपर्ययात्। 'भिक्खलाभिए'त्ति] भिक्षेव भिक्षा–तुच्छमवज्ञातं वा, तल्लाभो भाक्ततया यस्यास्ति स भिक्षालाभिकः। 'अभिक्खलाभिए'त्ति उक्तविपर्ययात्। [अज्ञातचरका–अज्ञातगृहेषु चरन्तीत्यभिग्रहवन्तः]। 'अन्नगिलायए'त्ति अन्नं–भोजनं विना ग्लायति (यः स) अन्नग्लायकः, स चाभिग्रहविशेषात्प्रातरेव दोषाऽन्नभुगिति। 'उवनिहिय'त्ति उपनिहितं [यथा कथञ्चिदासन्नीभूतं, तेन चरति यः स औपनिहितकः]" इत्यादि।

* 'धूतं' अपनीतं केशश्मश्रुरोमनखादिकं यैस्ते तथा इति वृहद्वृत्तौ।

प्रत्यक्षरविकृर्त्तरांसर्कमसिद्धे तरि धर्मर्वर्गगाः कालं कृत्वाऽन्यतमेषु वैमानिकेषु देवेषूत्पद्यन्ते, तत्रेन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशल्लोकपालपार्षद्या[त्म]रक्षप्रकीर्णेषु नानाविधसमृद्धिषु भवन्तीति, नत्वाभियोगिककिल्बिषिकादिष्विति । 'तं जहे'-त्यादि, तद्यथा-महर्द्ध्यादिषु देवलोकेषूत्पद्यन्ते । ते देवास्त्वेवम्भूता भवन्तीति दर्शयति—

ते णं तत्थ देवा भवंति-[महिड्डिया महज्जुत्तिया जाव महासुक्खा] हारविराइयवच्छा कडगतुडियथंभियभुया अंगयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तवत्थाहरणा विचित्तमाला-मउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदी पलंबवणमाल-धरा । दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्डीए दिव्वाए जुत्तीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गतिकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसिभद्दया यावि भवंति । एस ठाणे आयरिए, जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे सुसाहू दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए ॥ सू० २६] ॥

व्याख्या—'ते णं तत्थ देवा' इत्यादि, ते देवा नानाविधतपश्चरणोपात्तशुभकर्माणो महर्द्ध्यादिगुणोपेता भवन्ती-

त्यादिकः सामान्यवर्णकस्तथा हारविराजितवक्षस इत्यादिक आभरणवस्त्रपुष्पवर्णकः । पुनरतिशयापादनार्थं दिव्यरूपादिप्रतिपादनं चिकीर्षुराह–' दिव्वेणं रूवेणं ' दिव्यरूपेण दिव्यया द्रव्यलेश्ययोपेताः दशापि दिशः समुद्द्योतयन्तो गत्या शीघ्ररूपया कल्याणाः, तथा स्थित्योत्कृष्टमध्यमया कल्याणास्ते भवन्ति । तथाऽऽगामिनि काले भद्रकाः शोभनमनुष्यभवसम्पदुपेताः, तथा सद्धर्मप्रतिपत्तारश्च भवन्तीति । तदेतत्स्थानमार्य्यमेकान्तेनैव सम्यग्भूतं सुसाध्विति । एतद्द्वितीय[स्य] स्थानस्य धर्मपाक्षिकस्य विभङ्ग एवमाख्यातः ।

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जति–इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा–अप्पिच्छा [अप्पारंभा] अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाओ अप्पडिविरया जाव जे यावन्ना तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति, ततोवि एगच्चाओ अप्पडिविरया ।

व्याख्या—अथापरस्य तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकाख्यस्य विभङ्गः समाख्यायते–एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद्धर्म्माऽधर्म्माभ्यामुपेतं भवति [तथापि] धर्म्मभूयिष्ठत्वाद्धार्मिकपक्षेऽवतरति, तद्यथा–बहुषु गुणेषु मध्यपतितो दोषो नात्मानं लभते, कलङ्क इव चन्द्रिकायाः, तथा बहूदकमध्यपतितो मृच्छकलावयवो नोदकं कलुषयितुमलं, एवमधर्म्मोऽपि धर्म्ममिति स्थितं ।

असौ मिश्रपक्षोऽपि धार्म्मिकपक्षेऽवतरति । इह खलु जगति प्राच्यादिदिक्षु 'एके' केचन शुभकर्म्माणो मनुष्या भवन्तीति, अल्पेच्छा अल्पपरिग्रहारम्भा, एवंविधा धार्म्मिकवृत्तयः प्रायः सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधवो भवन्तीति । ते च एकस्मात् स्थूलात्सङ्कल्पकृतात् प्रतिनिवृत्ता, एकस्माच्च सूक्ष्मादारम्भजादप्रतिविरताः, एवं शेषाण्यपि व्रतानि संयोज्यानीति । 'जे यावन्ने' ये चान्ये सावद्या नरकगतिहेतवः कर्मसमारम्भास्तेभ्य एकस्माद्यन्त्रपीडानिर्लाञ्छनादिभ्यो निवृत्ता एकस्माच्च क्रयविक्रयादेरनिवृत्ता इति । तांश्च विशेषतो दर्शयति—

से जहा नामए समणोवासगा भवंति—अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुन्नपावा आसवसंवर-वेयणाणिज्जराकिरियाहिगरणबंधमोक्खकुसला असहिज्जा देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नरकिं-पुरिसगरुलगंधव्वमहोरगमाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा, निग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिया णिव्वितिगिच्छा, लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अभि-गयट्ठा अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा अचियत्तंतेउरपरघरप्पवेसा, चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा, समणे निग्गंथे फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थ-

पडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं [ओसहभेसज्जेणं] पीढफलगसिज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलवयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासगपरियायं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं अणसणाए (पच्चक्खायंति), पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए(छेदेंति), छेदित्ता आलोइयपडिकंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढिएसु महज्जुइएसु जाव महासुक्खेसु, सेसं तहेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू, तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवं आहिए ।

व्याख्या—अयं श्रमणोपासकवर्णकः सुगम एव, विशेषार्थिना बृहट्टीका विलोकनीया, अत्र ग्रन्थगौरवभयाद्व्याख्या न लिखिता । नवरं-'ऊसियफलिहा' उच्छ्रितानि स्फटिकानीव स्फटिकान्यन्तःकरणानि येषां ते तथा, एतदुक्तं भवति-मौनीन्द्रदर्शनावाप्तौ सत्यां परितुष्टमानसा इति । तथा अप्रावृतानि द्वाराणि यैस्ते तथा, उद्घाटितगृहद्वारास्तिष्ठन्ति, सद्दर्शन-लाभेन न क(स्माच्चि)स्यचि(?)द्बिभेति, शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटितशिरसो विश्रब्धं-तिष्ठन्तीति । अपरं सर्वं सुगमम् ।

तदेतत् स्थानं कल्याणं-परम्परया सुखविपाकमिति कृत्वाऽऽर्यमित्येवं विभक्तस्तृतीयस्य स्थानस्य मिश्रकाख्यस्याऽऽख्यात इति। उक्ताः धार्मिका अधार्मिकाश्च, तदुभयरूपाश्चाभिहिताः। साम्प्रतमेतदेव स्थानत्रिकं संक्षेपतो बिभणिषुराह—

अविरतिं पडुच्च बाले आहिज्जति, विरतिं पडुच्च पंडिए आहिज्जति, विरयाविरइं पडुच्च बाल-पंडिए आहिज्जति, तत्थ णं जा सा सव्वओ अविरती एस ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्व-दुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। तत्थ णं जा सा सव्वतो विरती एस ठाणे अणारंभट्ठाणे (एस ठाणे) आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू। तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे अणा[आरंभणोआ]रंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू ॥ [सू. २४] ॥

व्याख्या—येयमविरतिरसंयमरूपा, सम्यक्त्वाभावान्मिथ्यादृष्टेर्द्रव्यतो विरतिरप्यविरतिरेव, तां 'प्रतीत्य' आश्रित्य बालोऽज्ञः, सदसद्विवेकविकलत्वादित्येवमाधीयते—व्यवस्थाप्यते आख्यायते वा, विरतिं प्रतीत्य पण्डितः, तथा विरताविरतिं प्रतीत्य बालपण्डित इत्येतत्प्राग्वदायोज्यमिति। 'तत्थ ण' मित्यादि, तत्र पूर्वोक्तेषु स्थानेषु येयं सर्वस्मादविरति-र्विरतिपरिणामाभावः, तदेतत्स्थानं सावद्यारम्भस्थानं, एतदाश्रित्य सर्वाणि [अ]कार्याणि क्रियन्ते, अत एतदनार्यस्थानं, निश्शङ्कतया परिकश्चनकारित्वात्, यावदसर्वदुःखप्रहीणमार्गोऽयं एकान्तमिथ्यारूपोऽसाधुरिति, तत्र च येयं 'विरतिः'

सम्यक्त्वपूर्विका सावद्यारम्भान्निवृत्तिः, सा स्थगिताश्रवद्वारत्वात्पापा[नुपादानरूपेति]निवृत्तत्वात् (?) । एतत्स्थानमनारम्भस्थानं सावद्यानुष्ठानरहितत्वादनारम्भस्थानं, तदेतत्स्थानमार्यस्थानं अशेषकर्मक्षयमार्गः, तथैकान्तसम्यग्भूतः, एतदेवाऽह-साधुरिति साधुभूताऽनुष्ठानात् । तत्र चेयं या विरताविरतिरभिधीयते सा मिश्रस्थानभूता, तदेतदारम्भानारम्भस्थानं, एतदपि कथञ्चिदार्यमेव, पारम्पर्येण सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गस्तथैकान्तसम्यग्भूतः साधुश्चेति । तदेवमनेकविधोऽयमधर्मपक्षो धर्मपक्षो मिश्रपक्षश्चेति संक्षेपेणाभिहितः । मिश्रपक्षोऽप्यनयोरेवान्तर्वर्ती भवतीति दर्शयति—

एवामेव समणुगम्ममाणा+ इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोअरंति, तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव, तत्थ णं जे से पढम[स्स]ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए, तत्थ णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावाउयसयाइं भवंतीति मक्खा[याइं]यं । तं जहा—किरियावाईणं अकिरियावाईणं अन्नाणियवाईणं वेणईयवाईणं, तेवि [परि]निव्वाणमाहंसु, तेवि पलिमोक्खमाहंसु, ते वि लवंति सावगा ते वि लवंति सावइत्तारो ॥ [सू. २५]

व्याख्या—'एवमेवे'त्यादि, एवमेव संक्षेपेण 'समनुगम्यमाना' व्याख्यायमाना 'अनयोरेव' धर्माधर्मस्थानयोरनु-

---

+ 'समणुगिज्झमाणा' इति पाठान्तरं 'सम्यगनुगृह्यमाणः' इत्यर्थश्च चूर्णौ ।

पतन्ति, कथं ? यदुपशान्तस्थानं तद्धर्मपक्षस्थान[मनुपशान्तस्थानमधर्मपक्षस्थान]मिति, तत्र च यदधर्मपाक्षिकं प्रथमं स्थानं तत्रामूनि त्रीणि त्रिषष्ट्यधिकानि प्रावादुकशतान्यन्तर्भवन्ति, एवमाख्यातं पूर्वाचार्यैरिति । एतानि च सामान्येन दर्शयितुमाह—' तं जहा ' इत्यादि, तत्र क्रियावादिनः ज्ञानरहितां क्रियां स्वर्गापवर्गसाधिकां वदन्ति, ते क्रियावादिनः क्रियात एव मोक्षं वदन्तीति भावः । तत्र क्रियावादिनामशीत्युत्तरं शतं, अक्रियावादिनां चतुरशीतिः,अज्ञानिकानां सप्तषष्टिः, वैनयिकानां द्वात्रिंशदिति । एते सर्वेऽपि प्रावादुकाः मोक्षमार्गं कथयन्ति, तेऽपि प्रावादुकाः संसारबन्धनान्मोचनात्मकं मोक्षमाहुः । ' तेऽपि ' तीर्थिकाः 'लपन्ति' वदन्ति—मोक्षं प्रति धर्म्मदेशनां विदधतीति । शृण्वन्तीति श्रावकाः, अहो श्रावकाः! एवं गृह्णीत यूयं यथाऽहं देशयामीति । तथा तेऽपि धर्म्मश्रावयितारः सन्तः एवं 'लपन्ति' भाषन्ते यथाऽनेनोपायेन स्वर्ग-मोक्षावाप्तिरिति, तद्वचनं मिथ्यात्वोपहतबुद्धयोऽवितथमेव गृह्णन्ति, कूटपण्यदायिनां विपर्यस्तमतय इवेति, तथा कथमेते प्रावादुकाः* अहिंसां प्रतिपादयन्ति न च तां प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्यगनुतिष्ठन्ति । तथा सर्वे प्रावादुकाः मोक्षाङ्गभूतामहिंसां अप्राधान्येन प्रतिपद्यन्ते इति दर्शयितुमाह—

ते सव्वे पावाउया आइकरा धम्माणं नाणापन्ना नाणाछंदा नाणासीला नाणादिट्ठी नाणारुई नाणारंभा नाणाऽज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति । पुरिसे य

---

* " मिथ्यावादिनो भवन्तीति ? अत्रोच्यते—यतस्तेऽपि " इति बृहद्वृत्तौ ।

सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए (प्रावादुकान्) आदिगरे धम्माणं नाणापन्ने (प्रज्ञान्) जाव नाणाऽज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासि—हं भो पावाउया! आइगरा धम्माणं नाणापन्ना जाव नाणाऽज्झवसाणसंजुत्ता! इमं ताव तुब्भे सागणियाणं इंगलाणं पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय मुहुत्तयं मुहुत्तयं पाणिणा धरेह नो बहुसंडासगसंसारियं कुज्जा नो बहु अग्गिथंभणियं कुज्जा नो बहुसाहम्मियश्ववेयावडियं (वैयावृत्त्यं) कुज्जा नो बहुपरधम्मियवेयावडियं कुज्जा उज्जुया नियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुन्नं अओमएणं संडासएणं गहाय पाणिंसु निसिरति, तए णं ते पावादुया आदिगरा धम्माणं नाणापन्ना जाव नाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति (सङ्कोचयेयुः), तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावा[उए]इयाणं आदिगरे धम्माणं जाव नाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावादुया! आदिगरा धम्माणं (णाणापन्ना) जाव नाणा-

---

* साधर्म्मिकानामग्निदाहोपशमनाऽदिनोपकारं कुरुतेति ।

ज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ? पाणी नो डहेज्ज(दह्यति)दड्ढे किं भविस्सइ ? [दुक्खं] दुक्खंति मन्नमाणा पाणिं पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति— सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेत्तव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेयव्वा, ते आगंतु छेयाए ते आगंतु भेयाए जाव ते आगंतु जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवा-सभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइमरणाणं पिइमरणाणं भाइमरणाणं भइणीमरणाणं भज्जामरणाणं पुत्तमरणाणं धूयामरणाणं सुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते णो सिज्झिस्संति नो बुज्झिस्संति जाव नो सव्व-दुक्खाणमंतं करिस्संति, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे, पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं

समोसरणे। तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जाव परूविंति—सवे पाणा जाव सवे सत्ता न हंतवा जाव न उद्दवेयवा, ते णो आगंतु छेयाए णो आगंतु भेयाए जाव जाइजरामरणजोणि-जम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो णो भविस्संति। ते णो बहूणं दंडणाणं जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं नो आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो नो अणुपरियट्टिस्संति [ते सिज्झिस्संति] जाव सवदुक्खाणमंतं करिस्संति ॥ [सू. २६]

व्याख्या—'ते सव्वे' इत्यादि, ते सर्वे प्रावादुकास्त्रिषष्ट्युत्तरशतत्रयपरिमाणा अप्यादिकराः यथा स्वं धर्माणां, तथा 'नाना' भिन्ना 'प्रज्ञा' ज्ञानं येषां ते नानाप्रज्ञाः, तथा नानाछन्दा—भिन्नाभिप्रायाः, तथा ते नानाऽध्यवसायाः, ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथा स्वं पक्षमाश्रिताः एकत्र प्रदेशे मण्डलिबन्धमाधाय तिष्ठन्ति, तेषां चैवं व्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषस्तेषां प्रतिबोधनार्थं ज्वलताङ्गाराणां प्रतिपूर्णां 'पात्रीं' अयोमयं भाजनं लोहमयेन सन्दंशकेन गृहीत्वा तेषां ढौकितवान्, उवाच च—भोः प्रावादुकाः! इदमङ्गारभृतं भाजनं एकैकं मुहूर्त्तं प्रत्येकं बिभृत यूयं, न चेदं सन्दंशकं सांसारिकं नापि चाग्निस्तम्भनं विधत्त नापि साधर्म्मिकान्यधार्म्मिकाणामग्निदाहोपशमादिलोपकारं कुरुतेति 'ऋजवो' मायामकुर्वाणाः

पाणिं प्रसारयत, तेऽपि च तथैव कुर्युः, ततोऽसौ पुरुषस्तद्भाजनं तत्पाणौ समर्पयति, तेऽपि च दाहशङ्कया हस्तं सङ्कोचयेयुरिति। ततोऽसौ तानुवाच-किमिति पाणिं प्रतिसंहरत ? यूयं, एवमभिहितास्ते ऊचुः-दाहभयादिति। एतदुक्तं भवति-अवश्यमग्निदाहभयान्न कश्चिदग्न्यभिमुखं पाणिं ददातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः। [स नरः प्राह-] पाणिना दग्धेनापि किं भवतां भविष्यति ? दुःखमिति चेद्यद्येवं दाहभीरवो यूयं सुखाभिलाषिणश्च, तदेवं सति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एवम्भूता एवेत्येवमात्मतुलया-ऽऽत्मौपम्येन यथा मम नाभिमतं दुःखमेवं सर्वजन्तूनामित्यतस्त्याऽहिंसैव प्राधान्येनाऽऽश्रयणीया। 'तदेतत्प्रमाणं' सैषा युक्तिः "आत्मवत् सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति" तदेतत् समवसरणं-स एव धर्मविचारो यत्राहिंसा सम्पूर्णा, तत्रैव परमार्थतो धर्म इत्येवं व्यवस्थिते तत्र ये केचनाविदितपरमार्थाः श्रमणब्राह्मणादयः 'एवं' वक्ष्यमाणमाचक्षते-परेषामेवं भाषन्ते, तथैवं धर्मं 'प्रज्ञापयन्ति' व्यवस्थापयन्ति, तथाऽनेन प्राण्युपतापकारिणा प्रकारेण धर्मं प्ररूपयन्ति, तथाहि-सर्वे प्राणा इत्यादि, यावद्धन्तव्या दण्डादिभिः, परितापयितव्याः धर्मार्थिभरपक्वदहनादिभिः, परिग्राह्याः श्राद्धादौ रोहितमत्स्यादय इव, तथाऽपद्रावयितव्या देवतायागादिनिमित्तं छागादयः, इत्येवं ये श्रमणादयः प्राणिनामुपतापकारिणीं भाषां भाषन्ते ते आगामिनि काले 'अनेकशो' बहुशः स्वशरीरच्छेदाय भेदाय च भाषन्ते, तथा ते सावद्यभाषिणो भविष्यति काले जातिजरामरणानि बहूनि प्राप्नुवन्ति। [योन्यां जन्म] योनिजन्म, तदनेकशो गर्भव्युत्क्रान्तजावस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा संसारप्रपञ्चान्तर्गताः कलङ्कलीभावभाजो भवन्ति बहुशो भविष्यन्ति च, तथा ते बहूनां दण्डादीनां [शारीराणां] दुःखानामात्मानं भाजनं कुर्वन्ति, तथा ते मातृमरणादीनां मानसानां दुःखानां तथाऽन्येषामप्रिय-

सम्प्रयोगार्थनाशादिभिर्दुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो भविष्यन्ति । तथाऽनाद्यनवदग्रं-अनाद्यनन्तं संसारकान्तारं भूयो-भूयः अनुपरिवर्तिष्यन्ते, अरघट्टघटीन्यायेन तत्रैव भ्रमन्तः स्थास्यन्ति । तथा ते कुप्रावचनिकाः नैव सेत्स्यन्ति, नैव ते सर्वपदार्थान् भोत्स्यन्ते नैव ते संसारान्मोक्ष्यन्ते, तथा परिनिर्वृतिः-परिनिर्वाणमानन्दं नैव लप्स्यन्ते । न च ते सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्ति, एवं स्वयूथ्या अपि सावद्योपदेशतया न सेत्स्यन्ति । एषा तुला एतत्समवसरण-मागमविचार रूपं द्रष्टव्यमिति । तथा ये पुनर्विदिततत्त्वा एवं प्ररूपयन्ति-सर्वेऽपि जीवा दुःखद्विषः सुखलिप्सवोऽतो न हन्तव्या इति भाषन्ते ते पूर्वोक्तं दण्डनादिकं न प्राप्स्यन्ति, संसारकान्तारमचिरेणैव व्यतिक्रमिष्यन्तीत्यादि सर्वं पूर्वोक्तं भणनीयमिति । भणितानि क्रियास्थानानि, अथ पूर्वोक्तमेव संक्षेपेण कथयति—

इच्चेएहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा नो सिज्झिंसु जाव नो सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु वा [णो] करिंति वा [णो] करिस्संति वा, एयंसि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिंसु बुज्झिंसु मुच्चिंसु परिनिव्वाइंसु जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा । एवं से भिक्खू आतट्ठी (आत्मार्थी) आयहिते आयगुत्ते आयजोगे आयपरक्कमे आयरक्खिए आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरिज्जासि त्तिबेमि [सू० २७] ।

बीयसुयक्खंधस्स किरियाठाणं नाम बीयमज्झयणं समत्तं ॥

व्याख्या—इत्येतेषु द्वादशक्रियास्थानेष्वधर्मपक्षः समवतार्यते, तत्र एतेषु वर्त्तमाना जीवा नातीते काले सिद्धा न सिद्ध्यन्ति न सेत्स्यन्ति, तथा न बुबुधुर्न बुध्यन्ते न भोत्स्यन्ते, तथा न मुमुचुर्न मुञ्चन्ति न च मोक्ष्यन्ते, न निर्वृता न निर्वान्ति न च निर्वास्यन्ति, तथा न सर्वदुःखानामन्तं ययुर्न च यान्ति न च यास्यन्ति । साम्प्रतं त्रयोदशं क्रियास्थानं धर्मपक्षाश्रितं दर्शयितुमाह–' एयंसि ' इत्यादि, एतस्मिंस्त्रयोदशे क्रियास्थाने वर्त्तमानाः जीवाः सिद्धाः सिद्ध्यन्ति सेत्स्यन्ति यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यन्तीति स्थितम् । तदेवं स भिक्षुर्यः पुण्डरीकाध्ययनेऽभिहितो द्वादशक्रियास्थानवर्जकः अधर्मपक्षानुपशमपरित्यागी धर्मपक्षे स्थित उपशान्तः आत्मार्थी–ऽऽत्मार्थसाधकः आत्महितः आत्मगुप्तः आत्मयोगी–सदा धर्मध्यानावस्थितः, तथा पापेभ्यो–दुर्गतिगमनादिभ्यः आत्मा रक्षितो येन स आत्मरक्षी, सावद्यानुष्ठानान्निवृत्त इति भावः । तथाऽऽत्मानमनुकम्पते–शुभाऽनुष्ठानेन सद्गतिगामिनं विधत्ते, तथाऽऽत्मानं [संयमेन] संसारचारकान्निस्सारयति, तथाऽऽत्मानमनर्थभूतेभ्यो द्वादशक्रियास्थानेभ्यः प्रतिसंहरेत्, तथाऽऽत्मानं सर्वानर्थेभ्यो निवर्त्तयेदिति । एतच्च महापुरुषे सम्भाव्यते । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् , श्रीसुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भाषते–श्रीवर्द्धमानस्वामीसमीपे मयैतच्छ्रुतं तच्छ्रवतो निवेदितं, न स्वमनीषिकयेति समाप्तं क्रियास्थानाख्यं द्वितीयमध्ययनमिति ।

यदवापि मया पुण्यं, क्रियास्थानं विवृण्वता । तेन पुण्येन लोकोऽयं, भूयादानन्दमेदुरः ॥ १ ॥

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिविरचितायां श्रीमत्सूत्रकृताङ्गदीपिकायां द्वितीयश्रुतस्कन्धे द्वितीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

आहारपरिज्ञाभिधं तृतीयमध्ययनम् ।

अथ आहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनं प्रारभ्यते । तथाहि—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु आहारपरिन्नानाम अज्झयणं, तस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते, इह खलु पाईणं वा ४ सवतो सवावंति च णं लोगंसि चत्तारि बीयकाया एव-माहिज्जंति, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इह एगतिया सत्ता पुढविजोणीया पुढविसंभवा पुढविवुक्कमा य, तज्जोणीया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउ-सरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं, नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणामियं सारूवि[य]कडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा नाणारसा नाणाफासा नाणासंठाण-

संठिया णाणाविहसरीरपुग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ [सू० १]॥

व्याख्या—' सुयं मे ' सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैतदाह, तद्यथा-श्रुतं मया आयुष्मता भगवतेदमाख्यातं, आहारपरिज्ञेदमध्ययनं, तस्य चायमर्थः-प्राच्यादिदिक्षु 'सर्वत' इत्यूर्द्ध्वाधो विदिक्षु च सर्वस्मिँल्लोके चत्वारो 'बीजकाया' बीजप्रकाराः-समुत्पत्तिभेदा भवन्ति, तद्यथा-अग्रे बीजं-येषां तेऽग्रबीजाः तलतालीसहकारादयः शाल्यादयो वा, यदि वा अग्राण्येवोत्पत्तौ कारणतां प्रतिपद्यन्ते येषां ते कोरण्टादयः। तथा मूलबीजा आर्द्रकादयः, पर्वबीजा इक्ष्वादयः, स्कन्धबीजाः सल्लक्यादयः, तेषां च चतुर्विधानामपि वनस्पतिकायानां यद्यस्य 'बीज'मुत्पत्ति कारणं तद्यथाबीजं, यथा शाल्यङ्कुरस्य शालिबीज-मुत्पत्तिकारणं, एवमन्यदपि द्रष्टव्यं, 'यथाऽवकाशेने'ति यो यस्यावकाशः-यद्यस्योत्पत्तिस्थानं, अथवा भूम्यम्बुकालाकाशबीजसंयोगा यथाऽवकाशे गृह्यन्ते, तदेवं यथाबीजं यथाऽवकाशेन चेहाऽस्मिञ्जगति 'एके' केचन सत्त्वा ये तथाविधकर्म्मोदयाद्वनस्पतिषूत्पित्सवस्ते हि वनस्पतावुत्पद्यमाना अपि पृथिवीयोनिका भवन्ति, यथा तेषां वनस्पतिर्बीजं-कारणं, एवमाधारं विनोत्पत्तिर्न स्यात् तेन पृथिवीयोनिका इत्युच्यन्ते, यथा सेवालकर्द्दमानामुत्पत्तौ आधारभूतमम्भः, तथा 'पुढविसंभवा' पृथिव्यां वनस्पतिकायसम्भवः, तथा 'पुढविवुक्कमा' पृथिव्यां 'व्युत्क्रमो' वृद्धिर्भवति, [एवं च ते] तद्योनिकास्तत्सम्भवास्तद्व्युत्क्रमाः, अर्थः पूर्ववत्। तथा 'कम्मोवगा' ते हि तथाविधेन वनस्पतिकाय-सम्भवेन कर्म्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिषूप-सामीप्येन तस्यामेव पृथिव्यां गच्छन्तीति कर्म्मोपगा भण्यन्ते, ते हि कर्म्म-

वशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषूत्पद्यन्ते, न चाऽन्यत्रोत्पन्ना अन्यत्र भविष्यन्ति, यतः " कुसुमपुरोप्ते बीजे, मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति । यत्रैव तस्य बीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः ॥ १ ॥ " तथा ते जीवाः कर्मनिदानेन–कारणेन समाकृष्यमाणास्तत्र–पृथिव्यां वनस्पतिकाये वा व्युत्क्रमाः–समागताः सन्तो नानाविधयोनिकासु–पृथिवीष्विव्स्वन्येषामपि षण्णां कायानामुत्पत्तिस्थानभूतासु सचित्ताचित्तमिश्रासु वा श्वेतकृष्णादिवर्ण–तिक्तादिरस–सुरभ्यादिगन्ध–मृदुकर्कशादिस्पर्शादिकैर्विकल्पैर्बहुप्रकारासु भूमिषु वृक्षतया विविधं वर्त्तन्ते, ते च तत्रोत्पन्नास्तासां च पृथिवीनां ' स्नेहं ' स्निग्धभावमाददते, स एव तेषां वनस्पतिजीवानामाहार इति, न च ते पृथिवीशरीरमाहारयन्तः पृथिव्याः पीडामुत्पादयन्ति । एवमप्कायतेजोवायुवनस्पतीनामप्यायोज्यम् । अत्र च पीडाऽनुत्पादनेऽयं दृष्टान्तः, तद्यथा-अण्डोद्भवाद्या जीवा मातुरुष्मणा विवर्द्धमाना गर्भस्था वा उदरगतमाहारमाहारयन्तो नातीव पीडामुत्पादयन्त्येवमसावपि वनस्पतिकायिकः पृथिवीस्नेहमाहारयन्नातीव तस्याः पीडामुत्पादयति उत्पद्यमानः, समुत्पन्नश्च वृद्धिमुपागतोऽसदृशवर्णरसाद्युपेतत्वात् बाधां विदध्यादपीति । एवमप्कायस्य भौमस्यान्तरिक्षस्य वा शरीरमाहारयन्ति । तथा तेजसो भस्मादिकं शरीरं गृह्णन्ति, एवं वाय्वादेरपि द्रष्टव्यम् । किं बहूक्तेन ? नानाविधानां त्रसस्थावराणां यच्छरीरं तत्ते समुत्पद्यमाना अचित्तमिति–स्वकायेनावष्टभ्य प्रासुकी कुर्वन्ति, यदि वा परिविध्वस्तं पृथिवीकायादिशरीरं किञ्चित्परितापितं कुर्वन्ति, ते च वनस्पतिजीवा एतेषां पृथिवीकायादीनां तच्छरीरं 'पूर्वमाहारित'मिति तैरेव पृथिवीकायादिभिरुत्पत्तिसमये आहारितमासीत्–स्वकायत्वेन परिणामितमासीत्, तदधुनापि वनस्पतिजीवस्तत्रोत्पद्यमान उत्पन्नो वा 'त्वचा' स्पर्शेन आहारयति,

आहार्य च स्वकायत्वेन विपरिणामयन्ति, विपरिणामितं च तच्छरीरं स्वकायेन [सह]स्वरूपतां नीतं सत्तन्मयतां प्रतिपद्यते। अपराण्यपि शरीराणि मूलशाखाप्रतिशाखापत्रपुष्पफलादीनि तेषां पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां नानावर्णानि, तथाहि स्कन्धस्यान्यथाभूतो वर्णो मूलस्य चान्यादृश इति, एवं यावन्नानाविधशरीरपुद्गलविकुर्वितास्ते भवन्तीति, तथाहि—नानारसवीर्यविपाका नानाविधपुद्गलोपचयात्सुरूपकुरूपसंस्थानास्तथा दृढाल्पसंहननाः कृशस्थूलस्कन्धाश्च भवन्त्येवमादिनानाविधस्वरूपाणि शरीराणि विकुर्वन्तीति स्थितम्। 'ते जीवा कम्मोववन्नगा' ते च जीवास्तत्र—वनस्पतिषु तथाविधकर्मणा उपपन्नगास्ते चेदं एकेन्द्रियजातिस्थावरनामवनस्पतियोग्यायुष्कादिकमिति, तत्कर्मोदयेन तत्रोत्पन्नाः—कर्मोत्पन्ना इत्युच्यन्ते, न पुनः कालेश्वरादिना तत्रोत्पाद्यन्ते इत्येवमाख्यातं तीर्थकरादिभिरिति। एवं पृथिवीयोनिका[वृक्षा] उक्ताः, साम्प्रतं तद्योनिकेष्वेव वनस्पतिषु परे समुत्पद्यन्ते इत्येतद्दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा पुढविजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारितं तयाहारियं विप्परिणयं सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं

रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा णाणागंधा णाणारसा णाणाफासा णाणासंठाणसंठिया णाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विया ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ [सू० २]

व्याख्या—सुधर्म्मस्वामी शिष्योद्देशेनेदमाह–अथापरं एतदाख्यातं पुरा तीर्थंकरेण, तद्यथा–इहास्मिन् जगत्येके केचन तथाविधकर्म्मोदयवर्त्तिनः 'सत्त्वाः' प्राणिनः वृक्षा एव योनिरुत्पत्तिस्थानमाश्रयो येषां ते वृक्षयोनिकाः । इह यत् पृथिवीयोनिकेषु वृक्षेष्वभिहितं तदेतेष्वपि वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिषु तदुपचयकर्तृ सर्वमायोज्यं, यावदाख्यातमिति । साम्प्रतं वनस्पत्यवयवानधिकृत्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा य तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं आउतेउवाउवणस्सइसरीरं [नाणाविहाणं] तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ [सूत्रं ३]

व्याख्या—अथापरमेतदाख्यातं, तद्दर्शयति—इहास्मिञ्जगत्येके, न सर्वे, तथाविधकर्मोदयवर्तिनो वृक्षयोनिकाः सत्त्वा भवन्ति तदवयवाश्रिताश्चापरे वनस्पतिरूपा एव प्राणिनो भवन्ति, तथाहि—यो ह्येको वनस्पतिजीवः सर्ववृक्षावयवव्यापी भवति, तस्य चापरे तदवयवेषु मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालपुष्पपत्रफलबीजभूतेषु दशसु स्थानेषु जीवाः समुत्पद्यन्ते । ते च तत्रोत्पद्यमाना वृक्षयोनिकाः वृक्षोद्भवाः वृक्षव्युत्क्रमाश्चो[च्यन्ते]त्पद्यन्ते (?) इति, शेषं पूर्ववत् । इह च प्राक्चतुर्विधार्थप्रतिपादकानि सूत्राण्यभिहितानि, तद्यथा—वनस्पतयः पृथिव्याश्रिताः भवन्तीत्येकं १, तच्छरीरमप्कायादिशरीरं वाऽऽहारयन्तीति द्वितीयं २, तथा विवृद्धास्तदाहारितं शरीरमचित्तं विध्वस्तं च कृत्वाऽऽत्मसात्कुर्वन्तीति तृतीयं ३, अन्यान्यपि तेषां पृथिवीकाययोनिकानां वनस्पतीनां शरीराणि मूलकन्दस्कन्धादीनि नानावर्णानि भवन्तीति चतुर्थं ४, एवमत्रापि वनस्पतियोनिकानां वनस्पतीनामेवंविधार्थप्रतिपादकानि चतुष्प्रकाराणि सूत्राणि द्रष्टव्यानि यावत्ते जीवा वनस्पत्यवयवमूलकन्दादिरूपाः कर्मोपपन्नगा भवन्तीत्येवमाख्यातम् ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउ-

तेउवाउवणस्सइसरीरं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा नाणागंधा जाव नाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववन्नगा भवंतीति मक्खायं ॥ [सूत्रं ४]

व्याख्या—अयमालापकोऽव्याख्यात एव प्रावर्त्तते, अत्र तु लिखितोऽस्ति मया, (परं) सम्यग्नावगतोऽस्ति, तेन विद्वद्भिः सम्यग् विचार्य वाचनीयः+ । साम्प्रतं वृक्षोपर्युपपन्नान् वृक्षानाश्रित्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोव[वन्न]गा कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झारुहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहा[रुक्खा]णं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं

+ "अथापरमेतदाख्यातं—इहैके सत्त्वा वृक्षयोनिकाः स्युः, तस्यैकस्य वनस्पतेर्मूलारम्भकस्य उपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका उच्यन्ते, यदि वा मूलस्कन्धादिकाः पूर्वोक्तदशस्थानवर्त्तिनस्ते एवमुच्यन्ते । अत्रापि सूत्रचतुष्टयं प्राग्वत् ।" इति हर्ष० ।

अज्झारुहाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं ॥ [सूत्रं ५]

व्याख्या—अथापरमेतत्पुराऽऽख्यातं यद्वक्ष्यमाणमिहैके सत्त्वा वृक्षयोनिका भवन्ति, तत्र ये ते पृथिवीयोनिका वृक्षास्तेष्वेव प्रतिप्रदेशतया ये अपरे समुत्पद्यन्ते, तस्यैकस्य वनस्पतेर्मूलारम्भकस्योपचयकारिणस्ते वृक्षयोनिका इत्यभिधीयन्ते, तेषु च वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु कर्मोपादाननिष्पादितेषु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीत्यध्यारुहा—वृक्षोपरि जाता वृक्षा इत्यभिधीयन्ते। ते च वल्लीवृक्षाभिधानाः कामवृक्षाभिधाना वा द्रष्टव्यास्तद्भावे चापरे वनस्पतिकायाः समुत्पद्यन्ते वृक्षयोनिकेषु वनस्पतिष्विति, इदं प्रथमं सूत्रं। इहापि प्राग्वच्चत्वारि सूत्राणि द्रष्टव्यानि, तद्यथा—वृक्षयोनिकेषु वृक्षेष्वपरेऽध्यारुहाः समुत्पद्यन्ते, ते च तत्रोत्पन्नाः स्वयोनिभूतं वनस्पतिशरीरमाहारयन्ति, तथा पृथिव्यप्तेजोवाय्वादीनां शरीरकमाहारयन्ति, तच्छरीरमाहारितं सद्विध्वस्तं विपरिणामितमात्मसात्कृतं स्वकायावयवतया व्यवस्थापयन्ति, अपराणि च तेषामध्यारुहाणां नानाविधरूपरसगन्धस्पर्शोपेतानि नानासँस्थानानि शरीराणि भवन्ति, ते जीवास्तत्र स्वकृतकर्मोपपन्ना भवन्त्येतदाख्यातमिति प्रथमं सूत्रम् १ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारुहजोणिया अज्झारुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झारुहेसु अज्झारुहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारुह- [रुक्ख]जोणियाणं अज्झारुहाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा[आहारिंति]पुढविसरीरं जाव

सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं अज्झारुहजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा नाणावण्णा जाव-मक्खायं ॥ [सूत्रं ६]

व्याख्या—अथापरं पुराऽऽख्यातं ये ते प्राक् वृक्षयोनिकेषु वृक्षेषु अध्यारुहाः प्रतिपादितास्तेष्वेवापरे प्रतिप्रदेशोपचयकर्त्तारोऽध्यारुहवनस्पतित्वेनोपपद्यन्ते, ते च जीवा अध्यारुहप्रदेशेषूत्पन्ना अध्यारुहजीवास्तेषां स्वयोनिभूतानि शरीराण्याहारयन्ति, तत्रापराण्यपि पृथिव्यादीनि शरीराण्याहारयन्ति, अपराणि चाध्यारुहसम्भवानामध्यारुहजीवानां नानावर्णादीनि शरीराणि भवन्त्येवमाख्यातमिति द्वितीयं सूत्रम् २ ॥

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारुहजोणिया अज्झारुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्झारुह(रुक्ख)जोणिएसु (अज्झारुहेसु) अज्झारुहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारुहजोणियाणं अज्झारुहाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं आउ[सरीरं] जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं अज्झारुहजोणियाणं अज्झारुहाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं ॥ [सू० ७]

व्याख्या—अथापरं पुराऽऽख्यातमिहैके सत्त्वा अध्यारुहसम्भवेष्वध्यारुहेष्वध्यारुहत्वेनोत्पद्यन्ते, ये चैवमुत्पद्यन्ते तेऽध्या-

रुहयोनिकानामध्यारुहाणां यानि शरीराणि तान्याहारयन्ति । द्वितीयसूत्रे वृक्षयोनिकानामध्यारुहाणां यानि शरीराणि तानि अपरेऽध्यारुहजीवा आहारयन्ति, तृतीये त्वध्यारुहयोनिकानामध्यारुहजीवानां शरीराणि दृष्टव्यानीति विशेषः । इदं तु चतुर्थकं, तद्यथा—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता अज्झारुहजोणिया अज्झारुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा अज्झारुहजोणिएसु अज्झारुहेसु(अज्झारुहत्ताए)मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झारुहजोणियाणं अज्झारुहाणं सिणेहमाहारिंति(ते जीवा आहारिंति पुढवीसरीरं आउ०) जाव(सारूविकडं संतं,)अवरे वि य णं तेसिं अज्झारुहजोणियाणं (अज्झारुहाणं) मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं ॥ [सू० ८]

व्याख्या—अथापरमिदमाख्यातं, तद्यथा-इहैके सत्त्वा अध्यारुहयोनिकेष्वध्यारुहेषु मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजभावेनोत्पद्यन्ते, ते तथाविधकर्मोपगा भवन्तीत्येतदाख्यातमिति । शेषं पूर्ववदिति । साम्प्रतं वृक्षव्यतिरिक्तं शेषवनस्पतिकायमाश्रित्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव नाणाविहासु जोणिया-

सु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारिंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं १ [सू० ९] एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, जाव मक्खातं २ [सू० १०] एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति, तणजोणियं तणसरीरं च आहारिंति जावमक्खायं ३ । एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति ते जीवा जाव[एव]मक्खायं ४ ।

व्याख्या—अथापरमिदमाख्यातं यदुत्तरत्र वक्ष्यते, तद्यथा—इहैके सत्त्वाः [पृथिवीयोनिकाः] पृथिवीसम्भवाः [पृथिवी-]व्युत्क्रमा इत्यादयो यथा वृक्षेषु चत्वार्या[चत्वार आ]लापकाः एवं तृणान्यप्याश्रित्य द्रष्टव्यास्ते चामी—नानाविधासु पृथिवीयोनिषु तृणत्वेनोत्पद्यन्ते पृथिवीशरीरं चाहारयन्ति १ । द्वितीयं तु पृथिवीयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यन्ते तृणशरीरं चाहारयन्ति २ । तृतीयं तु तृणयोनिकेषु तृणेषूत्पद्यन्ते तृण [योनिकं] तृणशरीरं चाहारयन्ति ३ । चतुर्थं तृणयोनिकेषु तृणावयवेषु मूलादिषु दशप्रकारेषूत्पद्यन्ते तृणशरीरं चाहारयन्तीत्येवं यावदाख्यातमिति ४ ।

[एवं] ओसहीणं चत्तारि आलावगा, एवं हरियाण वि चत्तारि आलावगा [सू० ११]

व्याख्या—एवमौषध्याश्रयाश्चत्वार आलापका भणनीयाः, नवरं—औषधीग्रहणं कर्त्तव्यं, एवं हरिताश्रयाश्चत्वारः

आलापका वाच्याः । कुहणेषु त्वेक एव आलापको द्रष्टव्यः, स चायं—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कूहणत्ताए, कंदु[क]त्ताए उवेहलि[णि]यत्ताए निव्वेहलि[णि]यत्ताए सच्छत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवी सरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयत्ताणं जाव कूराणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं । इक्को चेव आलावगो, सेसा तिन्नि नत्थि ।

व्याख्या—कुहणेष्वेक एवालापको ज्ञेयः, शेषास्त्रयो न सन्ति, तद्योनिकानामपरेषामभावादिति । इह चामी वनस्पतिविशेषा लोकव्यवहारतोऽवगन्तव्याः प्रज्ञापनातो वा अवसेया इति । सम्प्रतमप्काययोनिकस्य वनस्पतेः स्वरूपं दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदगेसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदग-

जोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं। जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा अज्झारुहाण वि तहेव तणाणं ओसहीणं [हरियाणं]चत्तारि आलावगा भाणियव्वा इक्केके।

व्याख्या—अथानन्तरमेतद्वक्ष्यमाणमाख्यातं, तद्यथा-इहैके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदयादुदकयोनिका उदकसम्भवा यावत्कर्मनिदानेन सन्दानितास्तदुपक्रमा भवन्ति, ते च तत्कर्मवशगा नानाविधयोनिकेषूदकेषु वृक्षत्वेन [पनकशैवलादित्वेन] 'व्युत्क्रामन्ति' उत्पद्यन्ते। ये च जीवा उदकयोनिका वृक्षत्वेनोत्पन्नास्ते तच्छरीर-मुदकशरीरमाहारयन्ति, न केवलं तदेव, अन्यदपि पृथिवीकायादिकं शरीरमाहारयन्तीति। शेषं पूर्ववदिह। यथा पृथिवीयोनिकानां वृक्षाणां चत्वार आलापका एवमुदकयोनिकानामपि वृक्षाणां भवन्तीत्येवं द्रष्टव्यं, तदुत्पन्नानामपरस्य प्रागुक्तस्य*विकल्पाभावादिति। किं तर्हि ? एक एवालापको भवति,[ए]तेषां हि उदकाकृतीनां वनस्पतिकायानां तथा अवकपनकशैवलादीनामपरस्य प्रागुक्तस्य विकल्प-स्याभावादिति, एते चोदकाश्रया वनस्पतिविशेषाः कलम्बुकाहडादयो लोकव्यवहारतोऽवसेया इति।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए कच्छभाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुयत्ताए नलिणत्ताए सुभगत्ताए

* * एतचिन्हान्तर्गतः पाठो लेखकदोषजः सम्भाव्यते, वृत्तिष्वनुपक्रमात्।

सोगंधियत्ताए पोंडरीयमहापोंडरीयत्ताए सयपत्तत्ताए सहस्सपत्तत्ताए, एवं कल्हारकोंकणत्ताए अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिसभिसमुणालपुक्खलत्ताए पुक्खलच्छिभगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं। एक्को चेव आलावगो ३। [सू० १२]

व्याख्या—अथापरमन्यत् स्थानकं तीर्थकरैराख्यातं, तद्यथा–'इह' जगति एके जीवा उदकयोनिका नानायोनि(का)के (?) अवकपनकसेवालाः यावन्मृणालपुक्खलान्ता उत्पद्यन्ते, ते जीवा नानाविधयोनिकोदकस्नेहमाहारयन्ति इत्यादि पूर्ववत्। अस्यापमेक एव आलापको ज्ञेयः।

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता तेसिं चेव पुढविजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं ×तणेहिं, तणजोणिएहिं× मूलेहिं जाव बीएहिं+ (रुक्खजोणिएहिं अज्झारुहेहिं, अज्झारुहजोणिएहिं

× एतच्चिन्हान्तर्वर्तिपाठस्थाने 'रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं' इत्येवंविधः पाठोऽस्ति सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु।

+ ( ) नास्त्येतच्चिन्हान्तर्गतः पाठः मुद्रितदीपिकाप्रतिषु।

*जाव बीएहिं, पुढविजोणिएहिं तणेहिं *तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं, एवं [ओसहीहिं] सत्थ वि तिन्नि आलावगा, एवं हरिएहिं) वि तिन्नि आलावगा, पुढविजोणिएहिं वि आएहिं काएहिं जाव कूरुए[कूरे]हिं उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं * रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं, एवं अज्झारुहेहिं वि तिन्नि तणेहिं वि तिन्नि आलावगा, ओसहीहिं वि तिन्नि हरिएहिं वि तिन्नि उदग-जोणिएहिं उदगएहिं अवएहिं जाव पुक्खलच्छिभएहिं तसपाणत्ताए विउट्टंति ४। ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झारुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कूरवा[कूरा]णं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलच्छिभगाणं सिणेहमाहारिंति। ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झारुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंद-

---

* अत्रैतच्चिन्हस्थानेषु "अज्झारुहेहिं अज्झारुहजोणिएहिं मूलेहिं" तथा "तणजोणिएहिं तणेहिं" तथा "रुक्ख-जोणिएहिं रुक्खेहिं" इतिरूपेण पाठाधिक्यमस्ति सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु ।

जोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं[जाव कूरजोणियाणं]उदग-जोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलच्छिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं १ ॥ [सू० १३]

व्याख्या—ते वनस्पतावुत्पन्ना जीवाः पृथिवीयोनिकानां तथोदकानां वृक्षाध्यारुहतृणौषधिहरितयोनिकानां वृक्षाणां यावत्स्नेहमाहारयन्तीत्येतदाख्यातमिति, तथा त्रसानां प्राणिनां शरीरमाहारयन्तीत्येतदवसाने द्रष्टव्यमिति । तदेवं वनस्पति-कायिकानां सुप्रतिपाद्यचैतन्यानां स्वरूपमभिहितं, शेषाः पृथिवीकायादयश्चत्वार एकेन्द्रिया उत्तरत्र प्रतिपादयिष्यन्ते, साम्प्रतं त्रसकायिकस्यावसरः, स च नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदभिन्नः, तत्र नारका अप्रत्यक्षत्वेनानुमानग्राह्याः, [तथाहि—] दुष्कृत-कर्मफलभुजः केचन सन्तीत्येवं ते ग्राह्याः, तदाहारोऽप्येकान्तेनाशुभपुद्गलनिर्वर्तित ओजसा, न प्रक्षेपेणेति, देवा अप्यधुना बाहुल्येन अनुमानगम्या ए[व], तेषामप्याहारः शुभ एकान्तेनौजोनिर्वर्तितो, न प्रक्षेपकृत इति । स चाभोगनिर्वर्तितोऽना-[भोगकृतश्च, तत्राना]भोगकृतः प्रतिसमयभावी आभोगकृतश्च जघन्येन चतुर्थभक्तकृत उत्कृष्टतस्तु त्रयस्त्रिंशद्वर्षसहस्रनिष्पादित इति, शेषास्तु तिर्यङ्मनुष्यास्तेषां च मध्ये मनुष्याणामभ्यर्हितत्वात्तानेव प्राक् प्रदर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं मणुस्साणं, तं जहा—कम्मभूमिगाणं अकम्मभूमिगाणं अंतर-दीवगाणं आरियाणं मिलक्खुगाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्म-

कडाए जोणिए एत्थ णं मेहुणवत्तिए नामं संजोगे समुपज्जति, ते दुहओ वि सिणेहं संचिणंति ।

व्याख्या—अथानन्तरमेत'त्पुरा' पूर्वमाख्यातं, तद्यथा—आर्याणामनार्याणां च कर्मभूमिजाकर्मभूमिजादीनां मनुष्याणां नानाविधयोनिकानां स्वरूपं वक्ष्यमाणनीत्या समाख्यातं, तेषां च स्त्रीपुंनपुंसकभेदभिन्नानां 'यथाबीजेने'ति यद्यस्य बीजं, तत्र स्त्रियाः सम्बन्धि शोणितं पुरुषस्य शुक्रमेतदुभयमप्यविध्वस्तं, शुक्राधिकं सन्मनुष्यस्य शोणिताधिकं स्त्रियास्तत्समता नपुंसकस्य कारणतां प्रतिपद्यते, तथा 'यथावकाशेने'ति यो यस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकः, तत्रापि किल वामा स्त्रियो दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्योभयाऽऽश्रितः षण्ढ इति । तत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं+ बीजमिति चत्वारो भङ्गकाः, तत्राद्य एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिष्विति । अत्र च स्त्रीपुंसयोर्वेदोदये सति पूर्वकर्मनिर्वर्तितायां योनौ 'मैथुनप्रत्ययिको' रताभिलाषोदयजनितोऽग्निकारणयोररणिकाष्ठयोरिव संयोगः समुत्पद्यते, तत्संयोगे च तच्छुक्रशोणिते समुपादाय तत्रोत्पित्सवो जन्तवस्तैजसकार्मणाभ्यां शरीराभ्यां कर्मरज्जुसन्दानितास्तत्रोत्पद्यन्ते । ते च प्रथममुभयोरपि स्नेहमाचिन्वन्त्यविध्वस्तायां योनौ सत्यामिति, विध्वस्यते तु योनिः " पञ्चपञ्चाशिका नारी, सप्तसप्ततिकः पुमानि"ति, तथा द्वादश मुहूर्तानि यावच्छुक्रशोणिते अविध्वस्तयोनिके भवतस्तत ऊर्ध्वं ध्वंसमुपगच्छत इति ।

तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए नपुंसगत्ताए विउट्टंति ।

+ " बीजं १, अविध्वस्ता योनिर्विध्वस्तं बीजं २, विध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजं ३, विध्वस्ता योनिर्विध्वस्तं ।" इति दृ० ।

व्याख्या—तत्र च जीवा उभयोरपि स्नेहमा[हार्य–आ]दाय स्वकर्मविपाकेन यथास्वं स्त्रीपुंनपुंसकभावेन 'विउट्टंति'त्ति विवर्त्तन्ते–समुत्पद्यन्ते ।

ते जीवा माउए उयं पिउयं सुक्कं तं तदुभयसंसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहरिंति । ततो पच्छा जं से माता णाणाविहाओ रसवईओ आहारमाहरेति ततो एगदेसेणं ओयमाहारिंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति णपुंसगं वेगया जणयंति । ते जीवा डहरा समाणा माउए खीरं सप्पिं च आहारिंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्साणं कम्मभूमिगाणं अकम्मभूमिगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा भवंतीति मक्खायं ॥ [सू०१४]

व्याख्या—ततस्ते जीवास्तत्रोत्पन्नाः सन्तो मातुराहारमोजसा मिश्रेण वा लोमभिर्वाऽऽनुपूर्व्येणाहारयन्ति 'यथाक्रमं' आनुपूर्व्येण वृद्धिमुपगताः सन्तो 'गर्भपरिपाकं' गर्भनिष्पत्तिमनुप्रपन्नास्ततो मातुः कायादभिनिवर्त्तमानाः–पृथग्भवन्तस्तद्योनेर्निर्गच्छन्ति, ते च तथाविधकर्मोदयादात्मनः स्त्रीभावमप्येकदा जनयन्ति अपरे केचन पुम्भावं नपुंसकभावं च, इदमुक्तं

भवति–स्त्रीपुंनपुंसकभावः प्राणिनां स्वकृतकर्मनिर्वर्तितो भवति, न पुनर्यो यादृगिहभवे सोऽमुष्मिन्नपि तादृगेवेति, ते च तदहर्जातबालकाः सन्तः पूर्वभवाभ्यासादाहाराभिलाषिणो मातुः स्तनस्तन्यमाहारयन्ति, [तद्]आहारेण च वृद्धिमुपगता-स्तदुत्तरकालं नवनीतदध्योदनादिकं यावत्कुल्माषान् भुञ्जते, तथाऽऽहारत्वेनोपगतांस्त्रसांस्थावरांश्च प्राणिनस्ते जीवा आहारयन्ति, तथा नानाविधपृथिवीशरीरं लवणादिकं सचेतनमचेतनं वा आहारयन्ति, तच्चाऽऽहारितमात्मसात्कृतं सद् " रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः " इति सप्तधा व्यवस्थापयन्ति, अपराण्यपि तेषां नानाविधमनुष्याणां [नानावर्णानि] शरीराण्याविर्भवन्ति, ते च तद्योनिकत्वात्तदाधारभूतानि नानावर्णानि शरीराण्याहारयन्तीत्येवमाख्यातमिति। एवं तावद्गर्भव्युत्क्रान्तजमनुष्याः प्रतिपादितास्तदनन्तरं सम्मूर्छनजानामवसरः, तांश्चोत्तरत्र प्रतिपादयिष्यामि। साम्प्रतं तिर्यग्योनिकास्तत्रापि जलचरानुद्दिश्याऽऽह—

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं जलचराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा-मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए तहेव, जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारिंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुपवन्ना ततो कायातो अभिनिवट्टमाणा. अंडं वेगया जणयंति पोयं ए[वे]गया जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति। ते जीवा डहरा समाणा

आउसिणेहमाहारिंति आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं जलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं सुंसुमाराणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं ।

व्याख्या—अथाऽनन्तरमेतद्वक्ष्यमाणं पूर्वमाख्यातं, तद्यथा–नानाविधजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां सम्बन्धिनः काँश्चित् स्वनामग्राहमाह–“ मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं ” तेषां म[त्स्य]कच्छपकच्छपादीनां यस्य यथा यद्बीजं तेन तथा ‘ यथाऽवकाशेन ’ यो यस्योदरादावत्रकाशस्तेन, स्त्रियाः पुरुषस्य च स्वकर्मनिर्वर्तितायां योनावुत्पद्यन्ते, ते च तत्राभिव्यक्ता मातुराहारेण वृद्धिमुपगताः स्त्रीपुंनपुंसकानामन्यतमत्वेनोत्पद्यन्ते, ते च जीवा जलचरा गर्भाद्व्युत्क्रान्ताः सन्तस्तदनन्तरं यावद् ‘ डहर ’त्ति लघवस्तावदपाँस्नेहमप्कायमेवाऽऽहारयन्ति, आनुपूर्व्येण च वृद्धाः सन्तो वनस्पतिकायं त्रसान् स्थावरांश्चाहारयन्ति । तथा ते जीवाः पृथिवीशरीरं–कर्दमस्वरूपं क्रमेण वृद्धिमुपगताः सन्त आहारयन्ति, तदाहारितं सत्समानरूपीकृतमात्मसात्परिणामयन्ति, शेषं सुगमं, यावत्कर्मोपगा भवन्तीत्येवमाख्यातम् । साम्प्रतं स्थलचरानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं[तं जहा–] एगखुराणं, दुखुराणं, गंडीपदाणं, सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए

पुरिसस्स य कम्म० जाव मेहुणवत्तिए नामं संजोगे समुप्पज्जति, ते दुहओ सिणेहं संचिणंति, तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिस[त्ताए]जाव विउट्टंति। ते जीवा माऊए उयं पिउसुक्कं, एवं जहा मणुस्साणं जाव इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा माउणो खीरं सप्पिं आहारिंति। आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं।

व्याख्या—अथापरमेतत्तीर्थकरैराख्यातं नानाविधानां चतुष्पदानां, तद्यथा—एकखुराणामश्वानां, द्विखुराणां गोमहिष्यादीनां, गण्डीपदानां हस्त्यादीनां, सनखपदानां सिंहव्याघ्रादीनां, तेषां यथाबीजं यथाऽवकाशं जीवानामुत्पत्तिस्ते च वृद्धिमुपगताः सन्तोऽपरेषामपि शरीरमाहारयन्तीति, शेषं सुगमं, यावत्कर्म्मोपगा भवन्तीति। साम्प्रतं उरःपरिसर्पानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं उरपरिसप्पाणं थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—अहीणं अजगराणं आसालिआणं महोरगाणं, तेसिं च णं [अहाबीएणं] अहावगासेणं इत्थीए जाव

इत्थ णं मेहुणे, एवं तं चेव, नाणत्तं—अंडं वेगया जणयंति पोयं वेगया जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थिं वेगया जणयंति पुरिसंपि नपुंसगंपि, ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति, आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेवि य णं तेसिं नाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्ख० अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा नाणावण्णा [नाणागंधा] जावमक्खायं ।

×[व्याख्या—'नानाविधानां' बहुप्रकाराणां उरसा ये प्रसर्पन्ति तेषां, तद्यथा—अहीनामजगराणामाशालिकानां महोरगाणां यथाबीजेन यथाऽवकाशेन चोत्पन्नाऽण्ड[ज]त्वेन पोतजत्वेन वा गर्भान्निर्गच्छन्ति, ते च निर्गता मातुरूष्माणं (वाष्पमयं) वायुं चाहारयन्ति, तेषां च जातिप्रत्ययेन तेनैवाऽऽहारेण क्षीरादिनेव वृद्धिरुपजायते, शेषा] व्याख्या सुगमैव पूर्ववत् । साम्प्रतं भुजपरिसर्पानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं नाणाविहाणं भुयपरिसप्पाणं थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—गोहाणं नउलाणं सीहाणं सरडाणं सल्लाणं सरघाणं खराणं घरकोइलाणं विस्संभराणं मूसगाणं

× नास्त्येतच्चिन्हान्तर्गतः पाठः प्रत्यन्तरेषु ।

मंगुसाणं पयलातियाणं बिरालियाणं जोहाणं चउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य, जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं, जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलचरतिरिक्खाणं गोहाणं जावमक्खायं ।

व्याख्या—× [नानाविधानां भुजाभ्यां ये प्र(परि)सर्पन्ति तेषां, तद्यथा—गोधानकुलादीनां स्वकर्मोपात्तेन यथाबीजेन यथाऽवकाशेन चोत्पत्तिर्भवति, ते चाण्डजत्वेन पोतजत्वेन चोत्पन्नास्तदनन्तरं मातुरूष्मणा वायुना चाहारितेन वृद्धिमुपयान्ति । शेषं] सुगममेव पूर्ववत् । साम्प्रतं खेचरानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तं जहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जाव जहा उरपरिसप्पाणं, णाणत्तं—ते जीवा डहरा समाणा माउए गायसिणेहं आहारिंति । आणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सइकायं, तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं॰ चम्मपक्खीणं जावमक्खायं । [सू॰ १६]

× नास्त्येतच्चिन्हान्तर्वर्त्तिपाठः प्रत्यन्तरेषु ।

व्याख्या—नानाविधानां खेचराणामुत्पत्तिरेवं द्रष्टव्या, त[द्य]था–चर्मपक्षिणां चर्मकीटवल्गुलीप्रभृतीनां, तथा लोमपक्षिणां सारस–राजहंस–काक–बकादीनां, तथा समुद्गपक्षि–वितत‌पक्षिणां बहिर्द्वीपवर्त्तिनां, एतेषां यथाबीजेन यथाऽवकाशेन चोत्पन्नानामाहारक्रिया एवमुपजायते, तद्यथा–सा पक्षिणी तदण्डकं स्वपक्षाभ्यामावृत्य तावत्तिष्ठति यावत्तदण्डकं तदूष्मणाऽऽहारितेन वृद्धिमुपगतं सत् कललावस्थां परित्यज्य चञ्च्वादिकानवयवान् परिसमाप्य भेदमुपयाति, तदुत्तरकालमपि मात्रोपनीतेनाहारेण वृद्धिमुपयाति, शेषं प्राग्वत् । व्याख्याताः पञ्चेन्द्रिया मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च, तेषां चाहारो द्वेधा–आभोगनिर्वर्तितोऽनाभोगनिर्वर्तितश्च, तत्राऽनाभोगनिर्वर्तितः प्रतिक्षणभावी आभोगनिर्वर्तितस्तु यथास्वं क्षुद्वेदनीयोदयभावीति । साम्प्रतं विकलेन्द्रियानुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवुक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तदुवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पोग्गलाणं सरीरेसु वा सच्चित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति । ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं अणुसूयगाणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं । एवं दुरूवसंभवत्ताए, एवं खुरदुगत्ताए । [सू० १७]

व्याख्या—अथानन्तरमेतदाख्यातं 'इह' अस्मिन् संसारे 'एके' केचन तथाविधकर्म्मोदयवशवर्त्तिनः 'सत्त्वाः' प्राणिनो नानाविधयोनिकाः कर्म्मनिदानेन—स्वकृतकर्म्मणा तत्रोत्पत्तिस्थाने 'उपक्रम्य' आगत्य नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु सचित्तेषु वाऽचित्तेषु वा 'अणुसूयत्ताए' त्ति अपरशरीराश्रिततया परनिश्रया 'विवर्त्तन्ते' समुत्पद्यन्ते, यावत्ते च जीवा विकलेन्द्रियाः सचित्तेषु—मनुष्यादिशरीरेषु यूकालिक्षादिकत्वेनोत्पद्यन्ते, तथा तत्परिभुज्यमानेषु मञ्चकादिष्वचित्तेषु मत्कुणत्वेनाविर्भवन्ति—उत्पद्यन्ते, तथाऽचित्तीभूतेषु मनुष्यादिशरीरेषु विकलेन्द्रियशरीरकेषु वा ते जीवा 'अणुसू[स्यू]तत्वेन' परनिश्रया कृम्यादित्वेनोत्पद्यन्ते, परे तु सचित्ते तेजस्कायादौ मूषकादिकत्वेनोत्पद्यन्ते, यत्र चाग्निस्तत्र वायुरित्यतः स्वद्भवा अपि द्रष्टव्याः, तथा पृथिवीमनुश्रित्य कुन्थुपिपीलिकादयो वर्षादावूष्मणा संस्वेदजा जायन्ते, तथोदके पूतरकाछेदणकभ्रमरिकाछेदनकादयः समुत्पद्यन्ते, तथा वनस्पतिकाये पनकभ्रमरादयो जायन्ते। तदेवं ते जीवास्तानि स्वयोनिशरीराण्याहारयन्ति इत्येवमाख्यातमिति। साम्प्रतं पञ्चेन्द्रियमूत्रपुरीषोद्भवान् प्राणिनः प्रतिपादयितुमाह 'एव' मित्यादि, यथा सचित्ताचित्तनिश्रया विकलेन्द्रियाः समुत्पद्यन्ते तथा तत्सम्भवेषु मूत्रपुरीषवान्तादिषु परे जन्तवो 'दुरूवत्ताए' दुरूपास्तत्सम्भवत्वेन कृम्यादिभावत्वेनोत्पद्यन्ते। ते च तत्र विष्ठादौ देहान्निर्गते अनिर्गते वा समुत्पद्यमाना उत्पन्नाश्च तदेव विष्ठादिकं स्वयोनिभूत[माहार]माहारयन्ति, शेषं प्राग्वत्। सांप्रतं सचित्तशरीराऽऽश्रयाञ्जन्तून् प्रतिपादयितुमाह—'एवं खुरदुगत्ताए' एवमिति यथा मूत्रपुरीषादावुत्पादस्तथा तिर्यक्शरीरेषु 'खुरदुगत्ताए' त्ति चर्मकीटतया समुत्पद्यन्ते, इदमुक्तं भवति—जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्म्मणोऽन्तः प्राणिनः संमूर्च्छयन्ते, ते च तन्मांसचर्म्मणी भक्षयन्ति, भक्षयन्त-

स्वकर्मणो विवराणि विदधति, गलच्छोणितेषु विवरेषु तिष्ठन्तस्तदेव शोणितमाहारयन्ति, तथा अचित्तगवादिशरीरेऽपि, तथा सचित्ताऽचित्तवनस्पतिशरीरेऽपि घुणकीटकाः सम्मूर्च्छन्ते, ते च तत् सम्मूर्च्छनास्थानशरीरमाहारयन्तीति । साम्प्रतमप्कायं प्रतिपिपादयिषुस्तत्कारणभूतवातप्रतिपादनपूर्वकं प्रतिपादयन्नाह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया, +[जाव कम्म० खुरदुगत्ताए एवमक्खंति, इहेगइया सत्ता णाणाविहजोणिया] जाव + कम्मनिदाणेणं तत्थ वुकमा नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा । तं सरीरगं वायसंसिद्धं वा वातसंगहितं वा वातपरिगतं वा उड्ढवातेसु उड्ढभागी भवति अहेवाएसु अहेभागी भवति तिरियवातेसु तिरियभागी भवति, तं जहा—उस्सा हिमए महिया करए हरतणूए सुद्धोदए, ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिंति, [ते जीवा आहारिंति] पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं उस्साणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणा वण्णा जावमक्खायं ।

+ + नास्त्येतच्चिन्हमध्यगतो मूलपाठः सवृत्तिकमुद्रितप्रतिषु, परं दीपिकाप्रतिषु सर्वास्वप्यस्ति ।

व्याख्या—अथानन्तरमेतदुच्यमानं 'पुरा' पूर्वमाख्यातं, 'इह' अस्मिञ्जगत्येके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदया-नानाविधकर्मोदया-नानाविधयोनिकाः सन्तो यावत्कर्मनिदानेन 'तत्र' वातयोनिकाप्काये व्युत्क्रम्य-आगत्य नानाविधानां दर्दुरप्रभृतीनां प्राणिनां 'स्थावराणां च' हरितलवणादीनां सचित्ताचित्तभेदभिन्नेषु शरीरेषु तदप्कायशरीरं वायुना निष्पादितं वातेनैव सम्यग्गृहीतमभ्रकपटलान्तर्निर्मुक्तं वायुनैवान्योऽन्यानुगतं, तथोर्ध्वगतेषु वातेषूर्ध्वभागी भवति, अप्कायो हि गगनगतवातवशाद्दिवि सम्मूर्च्छते जलं, तथाऽधस्ताद्गतेषु तद्वशाद्भवत्यधोभागी अप्कायः, एवं तिर्यग्गतेषु वातेषु तिर्यग्भागी भवत्यप्कायः, इदमुक्तं भवति-वातयोनिकत्वादप्कायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूतं जलमपि सम्मूर्च्छते, तस्य चाभिधानपूर्वकं दर्शयितुमाह-'ओस'त्ति अवश्यायः हिमं महिका करकाः 'हरतणुए'त्ति तृणाग्रव्यवस्थिता जलबिन्दवः, शुद्धोदकं प्रतीतमिति, इहोदकप्रस्तावे एके सत्त्वास्तत्रोत्पद्यन्ते स्वकर्मवशगास्तत्रोत्पन्नास्ते जीवास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्वोत्पत्त्याधारभूतानां स्नेहमाहारयन्ति, ते जीवास्तच्छरीरमाहारयन्ति, अनाहारका न भवन्तीत्यर्थः, शेषं सुगमम्। तदेवं वातयोनिकमप्कायं प्रदर्श्याधुनाऽप्कायसम्भवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा तसथावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं तसथावरजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं अवरे वि य णं तेसिं

तसथावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं ।

व्याख्या—अथापरमाख्यातं इह जगति उदकाधिकारे [वा] एके सत्त्वास्तथाविधकर्मोदयाद्वात्रसोत्पन्नत्रसस्थावरशरीराधारमुदकं योनि-रुत्पत्तिस्थानं येषां ते तथा, तथोदकसम्भवा यावत्कर्मनिदानेन तत्रोत्पित्सवस्त्रसस्थावरयोनिके[षूदके]-ष्वपरोदकतया 'विवर्तन्ते' समुत्पद्यन्ते, ते च उदकजीवास्तेषां त्रसस्थावरयोनिकानामुदकानां + नानाविधानि शरीराणि विवर्त्तन्ते । एतदाख्यातं । तदेवं त्रसस्थावरशरीरसम्भवमुदकं योनित्वेन प्रदर्श्य अधुना निर्विशेषणमप्कायसम्भवमेवाप्कायं दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मानियाणेणं तत्थ वुक्कमा, उदगजोणिएसु उदगेसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं +जीवाणं उदगाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदग-

+ 'स्नेहमाहारयन्ति, अन्यान्यपि पृथिव्यादिशरीराण्याहारयन्ति, तच्च पृथिव्यादिशरीरमाहारितं सत्सात्म्यमानीयात्मसात्कुर्वन्त्यपराण्यपि तत्र त्रसस्थावरशरीराणि विवर्त्तन्ते, तेषां चोदकयोनिकानामुदकानां' इति वृत्तौ ।

+ नास्त्येतच्छब्दः सघृत्तिकमुद्रितप्रतिषु ।

जोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं ।

व्याख्या—अथाऽपरमेतदाख्यातं, इहैके सत्त्वाः स्वकृतकर्मोदयादुदकयोनि[केषूदके]षूत्पद्यन्ते, ते च तेषामुदकसम्भवाना-मुदकजीवानामात्माधारभूतानां शरीरमाहारयन्ति, शेषं सुगमं, यावदाख्यातमिति । साम्प्रतमुदकाश्रितान् पूतरकादिकांस्त्रसान् दर्शयितुमाह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु तसपाणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेह-माहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं । [सू० १८]

व्याख्या—सुगमैव× । अथाऽग्निकायमधिकृत्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थ वुक्कमा

×"अथापरमेतदाख्यातं, इहैके सत्त्वा उदकेषु उदकयोनिषु चोदकेषु त्रसप्राणितया पूतरकादित्वेन 'विवर्तन्ते' समुत्पद्यन्ते, ते चोत्पद्यमानाः समुत्पन्नाश्च तेषामुदकयोनिकानामुदकानां स्नेहमाहारयन्ति, शेषं सुगमं, यावदाख्यातमिति" इति वृत्तौ ।

नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तसथावरजोणियाणं पुढवी(अगणी)णं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं, सेसा तिन्नि आलावगा जहा उदगाणं।

व्याख्या—अथैतदपरमाख्यातं, 'इह' संसारे 'एके' केचन 'सत्त्वाः' प्राणिनस्तथाविधकर्मोदयवर्तिनो नानाविधयोनयः प्राक्सन्तः–पूर्वजन्मनि तथाविधं कर्मोपादाय तत्कर्मनिदानेन नानाविधानां त्रसस्थावराणां प्राणिनां शरीरेषु [सचित्तेषु] अचित्तेषु वाऽग्नित्वेन 'विवर्तन्ते' प्रादुर्भवन्ति, तथाहि–पञ्चेन्द्रियतिरश्चां दन्तिमहिषादीनां परस्परं युद्धावसरे × विषाणसंहर्षे + सत्यग्निरुत्तिष्ठते, एवमचित्तेष्वपि तदस्थिसंहर्षादग्नेरुत्थानं, तथा द्वीन्द्रियादिशरीरेष्वपि यथासम्भवमायोजनीयं, तथा स्थावरेष्वपि वनस्पत्युपलादिषु सचित्ताचित्तेष्वग्निजीवाः समुत्पद्यन्ते, ते चाग्निजीवास्तत्रोत्पन्नास्तेषां नानाविधानां त्रसस्थावराणां स्नेहमाहारयन्ति, शेषं सुगमं, यावच्चत्वन्तीत्येवमाख्यातम्। अपरे त्रयोऽप्यालापकाः

× दन्तशृङ्गयोः परिग्रहापेक्षया सचित्तांशयुक्तत्वापेक्षया वा अचित्तभेदभिन्नता इति टिप्पणं सवृत्तिकमुद्रितप्रतौ।

+ "स्पर्धायां तु समः परौ। हर्ष-घर्षौ च सङ्ग्राम-सङ्क्रमौ दुर्गसञ्चरे ॥ ८७ ॥" इति शब्दरत्नाकरः कां० ६।

प्रामुवद्द्रष्टव्या इति । साम्प्रतं वायुकायमुद्दिश्याह—

अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु [वा] अचित्तेसु वा वाउकायत्ताए विउट्टंति, जहा अगणीणं तहा भणियव्वा चत्तारि गमा [सू० १९]

व्याख्या—अयमालापकोऽग्निकायगमेन व्याख्येयः । साम्प्रतमशेषजीवाधारं पृथिवीकायमधिकृत्याह—

अहावरं पुरक्खायं, इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थ वुक्कमा णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए, इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—पुढवी सक्करा वालु—या य उवले सिला य लोणूसे । अय-तउय-तंब-सीसग—रुप्पसुवण्णे य वयरे य ॥ १ ॥ हरियाले हिंगुलुए, मणोसिलासासगंऽजण-पवाले, अब्भपडलब्भवालुय—बायरकाए मणिविहाणे ॥ २ ॥ गोमेज्जए य रुयए, अंके फलिहे य लोहियक्खे य । मरगय-मसारगल्ले, भुयमोयग-इंदनीले य ॥ ३ ॥ चंदण-गेरुय-हंसगब्भ—पुलए

सोगंधिए य बोधव्वे । चन्दप्पभ-वेरुलिए, जलकंते सूरकंते य ॥ ४ ॥ एयाओ गाहाओ एएसु भणियव्वाओ, जाव सूरंकतत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारिंति, ते जीवा आहारिंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तसथावर-जोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जावमक्खायं, सेसा तिन्नि आलावगा जहा उदगाणं । [सू० २०]

व्याख्या—अथापरमेतत्पूर्वमाख्यातं, इहैके सत्त्वाः पूर्वं नानाविधयोनिकाः स्वकृतकर्मवशगा नानाविधत्रसस्थावराणां शरीरेषु सचित्तेषु अचित्तेषु वा पृथिवीत्वेनोत्पद्यन्ते, तद्यथा—सर्पशिरस्सु मणयः करिदन्तेषु मौक्तिकानि विकलेन्द्रियेष्वपि शुक्त्यादिषु मौक्तिकानि, स्थावरेष्वपि वेण्वादिषु तान्येवेति, एवमचित्तेषूषरादिषु लवणभावेनोत्पद्यन्ते, एवं पृथिवीकायिका नानाविधासु पृथिवीषु शर्करा-वालुका-उपल-शिला-लवणादिभावेन तथा गोमेदकादिरत्नभावेन च बादरमणिविधानतया समुत्पद्यन्ते, शेषं सुगमं, यावच्चत्वारोऽप्यालापका उदकगमेन नेतव्या इति । साम्प्रतं सर्वोपसंहारद्वारेण सर्वजीवान् सामान्यतो विभणिषुराह—

अहावरं पुरक्खायं सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविह-

संभवा नाणाविहवुक्कमा, सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवुक्कमा सरीराहारा कम्मोवगा कम्म-
नियाणा कम्मगईया कम्मट्ठिइया कम्मणा चेव विप्परियासमुवेंति । से एवमायाणह, से एव-
मायाणित्ता आहारगुत्ते सहिए समिए सया जए त्तिबेमि । [सू० २१]

बीयसुयक्खंधस्स आहारपरिन्नानाम तईयमज्झयणं समत्तं ॥ ३ ॥

व्याख्या—अथापरमेतदाख्यातं—सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वाः सर्वे जीवाः× नानाविधयोनिका नारक-तिर्यङ्नरामरादिगतिषूत्पद्यन्ते, यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्र तत्र तच्छरीराहारिणो भवन्ति, तदाहारवन्तश्च तत्रागुप्तास्तद्द्वारायाततत्कर्मवशगा नारकतिर्यङ्नरामरगतिषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थितयो भवन्ति, अनेनेदमुक्तं भवति—यो यादृगिह भवेत्—स तादृगमुत्राऽपि भवतीत्येतन्निरस्तं भवति, अपि तु कर्मोपगाः कर्मनिदानाः कर्मायत्तगतयो भवन्ति, तथा तेनैव कर्मणा सुखलिप्सवोऽपि तद्विपर्यासं—दुःखमुपगच्छन्तीति । साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुराह—'से एवमायाणह' त्यादि, यदेतन्मयाऽऽदितः प्रभृत्युक्तं, तद्यथा—यो यत्रोत्पद्यते स तच्छरीराहारको भवति, आहारागुप्तश्च कर्मादत्ते, कर्मणा च नानाविधासु योनिष्वरघट्टघटीन्यायेन पौनःपुन्येन पर्यटतीत्येवं जानीत यूयं, एतद्विपर्यासं—दुःखमुपगच्छन्तीति । एतत्परिज्ञाय सदस-

× जीवसत्त्वयोर्व्यत्ययेन निर्देशोऽत्र ।

द्विवेकी आहारगुप्तः पञ्चभिः समितिभिः समितः सहितो ज्ञानादिभिः 'सदा' सर्वकालं—यावदुच्छ्वासं तावद्यतेत—संयमानुष्ठाने प्रयत्नवान् भवेदिति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिवरगुम्फितायां श्रीसूत्रकृताङ्ग-
दीपिकायां द्वितीये श्रुतस्कन्धे समाप्तमाहारपरिज्ञाख्यं तृतीयमध्ययनमिति ॥ ३ ॥

अथ प्रत्याख्यानक्रियाख्यं चतुर्थमध्ययनम् ।

अथ तृतीयाध्ययनानन्तरं चतुर्थमारभ्यते, आहारपरिज्ञानन्तरं प्रत्याख्यानक्रियाध्ययनमारभ्यते, तच्चेदम्—

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु पच्चक्खाणकिरियानाम अज्झयणं, तस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते—

व्याख्या—श्रीजम्बूस्वामिनं प्रति श्रीसुधर्मस्वामी कथयति—श्रुतं मया [आयुष्मता] भगवतेदमाख्यातं—इह खलु प्रत्याख्यानक्रियानामाध्ययनं, तस्यायमर्थो वक्ष्यमाणलक्षणस्तथाहि—

आया अपच्चक्खाणी आवि भवति, आया अकिरियाकुसले आवि भवति, आया मिच्छासंठिए

आवि भवति, आया एगंतदंडे आवि भवति, आया एगंतबाले आवि भवति, आया एगंतसुत्ते आवि भवति, आया अवियारमणवयणकायवक्के आवि भवति, आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे आवि भवति, एस खलु भगवता अक्खाए असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जइ [सू० १] तस्स णं चोयए पन्नवगं एवं वदासि—

व्याख्या—अयमात्मा–जीवः अनादिमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगततया स्वभावत एवाप्रत्याख्यान्यपि भवति, [अपि शब्दात्] स एव कुतश्चिन्निमित्तात्प्रत्याख्यान्यपि भवति, तथा +अक्रियाकुशलोऽपि भवति, तथाऽऽत्मा मिथ्यात्वोदयसंस्थितोऽपि भवति, तथैकान्तेनापरान्प्राणिनो [दण्डयतीति] दण्डस्तदेवम्भूतो भवति, तथाऽऽत्मा एकान्तबालश्च भवति, तथाऽऽत्मा एकान्तसुप्तश्च भवति, यथा द्रव्यसुप्तः शब्दादीन् विषयांश्च जानाति हिताहितप्राप्तिपरिहारविकलश्च भवति तथाऽऽत्माऽपि भावसुप्तो हिताहितं न वेत्ति, तथाऽऽत्माऽप्रत्याख्यानक्रियः सन् अविचारितमनोवाक्कायवाक्यश्चापि ×भवति,

---

+ " सदनुष्ठानं क्रिया, तस्यां कुशलः क्रियाकुशलस्तत्प्रतिषेधात् " इति बृह० ।

× " वाग्ग्रहणेनैव वाक्यस्य गतार्थत्वात्पुनर्वाक्यग्रहणं वाग्व्यापारस्य प्राचुर्यज्ञापनार्थम् । " इति दर्प० ।

तथाऽप्रतिहताप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, एवंविधो जीवो भगवता असंयत अविरत अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा सक्रिय असंवृत एकान्तबाल एकान्तसुप्तश्च कथितः, तदेवम्भूतश्च बालसुप्ततया 'अविचाराणि' अविचारितरमणीयानि परमार्थविचारणया युक्त्या वा निघटमानानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा, अविचारितमनोवाक्कायः निर्विवेकतया पटुविज्ञानरहितः स्वप्नमपि न पश्यति, तस्य चाव्यक्तविज्ञानस्य स्वप्नमप्यपश्यतः पापं कर्म बध्यते, एतावता यद्वस्तु स्वप्नेऽपि नायाति कदाचिद्दृष्टमपि न तस्यापि कर्मबन्धो लगति, अव्यक्तविज्ञानेनापि प्राणिना पापं कर्म क्रियत इति भावः। तत्र चैवं व्यवस्थिते परः प्रज्ञापकमेवमवादीत्—अत्र चाचार्याभिप्रायं परः प्रतिषेधयति—

असंतएणं मणेणं पावएणं असंतिआए वतीए पाविआए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमण[क्ख]स्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुमिणमवि अपस्सओ पावे कम्मे नो कज्जइ, कस्स णं तं हेउं? चोयगे एवं ब्रवीति—

व्याख्या—अविद्यमानेन असता मनसा तथा अप्रवृत्तेनाशोभनेन, तथा वाचा कायेन च पापेन असता, तथा सत्त्वान् अनिघ्नतः, तथाऽमनस्कस्याविचारमनोवाक्कायवाक्यस्य स्वप्नमप्यपश्यतः, एवमव्यक्तविज्ञानस्य पापं कर्म न बध्यते, एवम्भूतविज्ञानेन पापं कर्म न क्रियत इति, तर्हि कथयन्तु पूज्याः? कथं पाप कर्म बध्यते? केन हेतुना—केन कारणेन कर्मबन्धः स्यात्? नात्र कश्चिदव्यक्तविज्ञानत्वात् पापकर्म हेतुरिति। अथ पर एव स्वाभिप्रायेण पापकर्मबन्धहेतुमाह—

अन्नयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरीए वतीए पावियाए वतिवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ, अन्नयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, [हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमणवयणकायवक्कस्स सुमिणमवि पासओ एवंगुणजातीयस्स पावे कम्मे कज्जइ।] पुणरवि चोयगे एवं बवीति—तत्थ णं जे ते एवमाहंसु—असंतएणं मणेणं पावएणं असंतीयाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जति,[तत्थ णं] जे [ते]एवमाहंसु तं मिच्छा। तत्थ पन्नवए चोयगं एवं वयासी—[तं सम्मं]जं मए पुव्वं वुत्तं असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वईए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमणवयणकायवक्कस्स सुविणमवि अपस्सओ पावे कम्मे कज्जइ तं सम्मं। [कस्स णं तं हेउं ?।]

व्याख्या—कर्माश्रवद्वारभूतैर्मनोवाक्कायकर्मभिः कर्म बध्यत इति दर्शयति—अन्यतरेण क्लिष्टेन प्राणातिपातादिप्रवृत्त्या मनसा वाचा कायेन च तत्प्रत्ययिकं कर्म बध्यते। तथा घ्नतस्सत्त्वान्समनस्कस्य सविचारमनोवाक्कायवाक्यस्य स्वप्नमपि पश्यतः अस्पष्टविज्ञानस्यैवद्गुणजातीयस्य पापं कर्म बध्यते, न पुनरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादेः पापकर्मसम्भव इति, तेषां घात-

कस्य मनोवाक्कायव्यापारस्याभावात्, अथैतद्व्यापारमन्तरेणापि कर्मबन्ध इष्यते ? एवं च सति मुक्तानामपि कर्मबन्धः स्यात्, न चैतदिष्यते, तस्मान्नैवं बन्धः, तत्र यदेवम्भूतैरेव मनोवाक्कायव्यापारैः कर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते । तदेवं व्यवस्थिते सति ये ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा–अविद्यमानैरेवाशुभैर्योगैः पापं कर्म क्रियते, मिथ्या ते एवमुक्तवन्त इति स्थितम् । तदेवं शिष्येणाचार्यपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षे व्यवस्थापिते सत्याचार्य आह–'तं सम्म'मित्यादि, यदेतन्मयोक्तं प्राग् यथाऽस्पष्टाव्यक्तयोगानामपि कर्म बध्यते तत् 'सम्यक्' शोभनं युक्तिसङ्गतं इति। एवमुक्ते पर आह–' कस्य हेतोः ? ' केन कारणेन ? तत्सम्यगिति चेदाह—

तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाया हेऊ पन्नत्ता, तं जहा–पुढविकाइया जाव तसकाइया, इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे, तं जहा–पाणाइवाए जाव परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले ।

व्याख्या—आचार्य आह–तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायाः कर्मबन्धहेतुत्वेनोपन्यस्तास्तद्यथा–पृथिवीकायिका यावत्त्रसकायिका इति। कथमेते षट्कायाः कर्मबन्धस्य कारणमित्याह—'इच्चेएहिं' इत्यादि, इत्येतेषु पृथिव्यादिषु षड्जीवनिकायेषु अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा य आत्मा जन्तुः 'नित्यं' सर्वकालं प्रकर्षेण शठः तथा 'व्यतिपाते' प्राणिव्यपरोपणे चित्तं यस्य स व्यतिपातचित्तः, [स्वपरदण्डहेतुत्वाद्दण्डः] प्रशठश्चासौ व्यतिपातचित्तदण्डश्चेति आत्मा, तद्यथा–

प्राणातिपाते विधेये प्रशठ[व्यतिपात]चित्तदण्डः, एवं मृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहेष्वपि वाच्यं, यावन्मिथ्यादर्शनशल्यमिति। तेषामिहैकेन्द्रियविकलेन्द्रियादीनामनिवृत्तत्वान्मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगतता इति द्रष्टव्यं, तन्नावाच्य ते कथं प्राणातिपातादि दोषवन्तो न भवन्ति? एतावता एकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः प्राणातिपातादिदोषवत्तया अव्यक्तविज्ञाना अपि सन्तोऽस्वप्नाद्यवस्थायामपि ते कर्म्मबन्धका एव, तदेवं व्यवस्थिते यत्प्रागुक्तं परेण, यथा—अव्यक्तविज्ञानानामनभ्रतां अमनस्कानां न कर्म्मबन्ध इत्येतन्मृषा। साम्प्रतमाचार्यः स्वपक्षसिद्धये दृष्टान्तमाह—

तत्थ खलु भगवता वहए दिट्ठंते पन्नत्ते, से जहा नामए वहए सिया गाहावइस्स वा गाहावइपुत्तस्स वा रन्नो वा रायपुरिसस्स वा खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि[त्ति] पहारेमाणे से किं नु हु नाम से वहए तस्स गाहावइस्स वा [तस्स] गाहावइपुत्तस्स वा तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं निदाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामि[त्ति] पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे भवति? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए—हंता भवति।

व्याख्या—तत्र खलु भगवता वधकदृष्टान्तः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—वधकः कश्चित्स्यादिति, कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितः सन्

कस्यचिद्वधपरिणतः कश्चित्पुरुषो भवति, कीदृशो वधकः ? 'गाहावइस्से 'त्यादि, गृहपतिर्गृहपतिपुत्रो वा तस्योपरि कश्चिद्वधकः संवृत्तः, स च वधपरिणामपरिणतोऽपि कस्मिँश्चित्क्षणे पापकारिणमेनं घातयिष्यामीति । तथा राज्ञः राजपुरुषस्य वोपरि कुपित एतत्कुर्यादित्याह—' खणं निदाय ' इत्यादि, क्षण-मवसरं 'निदाय'त्ति प्राप्य लब्ध्वा [वध्यस्य] पुरे गृहे वा प्रवेक्ष्यामीति तदध्यवसायी भवति, तथा क्षणमवसरं छिद्रादिकं वध[वध्य]स्य लब्ध्वा तं वध्यं हनिष्यामीत्येवं सम्प्रधारयति, तथा गृहपते राज्ञो वा कश्चित्कारणकोपाद्वधपरिणतोऽप्यात्मनोऽवसरं लब्ध्वा हनिष्यामीत्यवसरं-छिद्रमपेक्षमाणस्तदवसरापेक्षी, कश्चित् कालमुदास्ते, स च तत्रौदासीन्यं कुर्वाणः अपरेण कार्यादिना व्यग्रचेतास्तस्मिन्नवसरे व[ध]ध्यं प्रत्यस्पष्टविज्ञानो भवति, स चैवम्भूतोऽपि यथा तं वध्यं प्रति नित्यमेव प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति, एवमविद्यमानैरपि प्रत्यक्षैरशुभैर्योगैरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयोऽस्पष्टविज्ञाना अपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगानुगतत्वात्प्राणातिपातादिदोषवन्तो भवन्तीति, न च तेऽवसरं अपेक्षमाणा उदासीना अपि अवैरिण इति, एवमस्पष्टविज्ञाना अपि वैरिणो भवन्तीति । साम्प्रतमाचार्य एव स्वाभिप्रेतमर्थं परप्रश्नपूर्वकमाविर्भावयन्नाह-' से किं नु हु ' इत्यादि, आचार्यः स्वतो निर्णीतार्थोऽप्यपरं पृच्छति-किमसौ वधक पुरुषो[हनना]ऽवसरापेक्षी छिद्रं ' सम्प्रधारयन् ' चिन्तयन् अहर्निशं सुप्तो जाग्रदवस्थो वा 'तस्य' गृहपते राज्ञो वा वध्यस्यामित्रभूतो वा मिथ्यासँस्थितो नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवति ? आहोस्विन्नेत्येवं पृष्टः परः समतया माध्यस्थ्यमवलम्बमानो यथाऽवस्थितमेव व्यागृणीयात्, यथा-हन्त आचार्य ! भवत्यसावमित्रभूत इत्यादि । तदेवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

आचार्य आह—जहा से वहए तस्स गाहावइस्स[वा]तस्स गाहावइपुत्तस्स[वा]तस्स वा रन्नो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं निद्दाय पविसिस्सामि खणं लद्धूणं वहिस्सामीत्ति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे [भवइ] एवामेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए निच्चं पसढविउवायचित्तदंडे [भवइ], तं जहा—पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अक्खाए—असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते आवि भवति, से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पस्सति पावे य से कम्मे कज्जति ।

व्याख्या—'जहा से वहए' इत्यादि, यथाऽसौ वधक इत्यादिना दृष्टान्तमनूद्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह—'एवामेवे' इत्यादि, यथाऽसौ वधकोऽवसरापेक्षितया वध्यस्य व्यापत्तिमकुर्वाणोऽप्यमित्रभूतो भवत्येवमसावपि बालोऽस्पष्टविज्ञानो निवृत्तेरभावात्सर्वेषां प्राणिनां व्यापादको भवति यावन्मिथ्यादर्शनशल्योपेतो भवति, यद्यप्युत्थानादिकं विनयं कुर्वन्निमित्तादसौ विधत्ते तथाप्युदायिनृपमारकवदन्तर्दुष्ट एवेति नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डश्च यथा परशुरामः

कृतवीर्यं व्यापाद्यापि तदुत्तरकालं सप्तवाराश्निःक्षत्रां पृथिवीं चकार, एवमसावमित्रभूतो मिथ्याविनीतश्च भवति। 'एवं खलु भगवया' इत्यादि, यथाऽसौ वधकोऽवसरापेक्षी न तावद्घातयति [अथ च] अनिवृत्तत्वाद्दोषदुष्ट एव, एवमसावप्येकेन्द्रियादिकोऽस्पष्टविज्ञानोऽप्यविरतत्वात्तथाभूत एव—अविरताप्रतिहताप्रत्याख्याताऽसत्क्रियादिदोषदुष्ट एवेति, शेषं सुगमं, यावत्पापं कर्म क्रियत इति।

जहा से वहए तस्स वा गाहावइस्स वा[जाव]तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं[पत्तेयं]चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिए[निच्चं]पसढविउवातचित्तदंडे भवति, एवामेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं[पत्तेयं]चित्तसमादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे भवति ॥ [सू० २]

व्याख्या—यथाऽसौ वधको वध्यस्य विनाशं चिन्तयन् अनिघ्नन्नपि अमित्रभूतः कथ्यते, तदनु तस्य वधमकुर्वतोऽपि पापकर्म जायते, एवं बाल एकेन्द्रियादिरपि सर्वेषां प्राणिनाममित्रभूतः कथ्यते, अविरतत्वात्, एकेन्द्रियादेरप्यकुर्वतोऽपि बन्धो भवति पापकर्मण इति। एवमाचार्येण प्रतिपादिते सति शिष्यः कथयति—

नो इणमट्ठे समट्ठे [चोदकः]। इह खलु बहवे पाणा० जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं नो दिट्ठा वा सुया वा नाभिमता वा, विन्नाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्तसमायाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविउवातचित्तदंडे, तं जहा— पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥ [सू० ३]

व्याख्या—'नो इणमट्ठे समट्ठे' नायमर्थः समर्थः यदकुर्वतोऽमतः अमनस्कस्यापि पापकर्म्म लगति, नायमर्थः समर्थः—प्रतिपत्तुं न योग्य इति। तत्र शिष्यः कारणमाह—'इह खलु' चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके 'बहवो'ऽनन्ताः प्राणिनः सन्ति देशकालविप्रकृष्टास्तथाभूता बहवः सन्ति ये अनेन शरीरसमुच्छ्रयेण न कदाचिद्दृष्टाश्चक्षुषा न श्रुताः श्रवणाभ्यां विशेषतो नाभिमता—इष्टा, न च विज्ञाताः स्वयमेवेत्यतः कथं तद्विषयस्तस्यामित्रभावः स्यात्?, अतस्तेषां कदाचिदप्यविज्ञातानां कथं प्रत्येकं वधं प्रति चित्तसमादानं भवति? न चासौ तान् प्रति नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डो भवतीति। एवं च व्यवस्थिते न सर्वविषयं प्रत्याख्यानं युज्यते, इत्येवं प्रतिपादिते सति परेण आचार्य आह—

तत्थ खलु भगवया दुवे दिट्ठंता पन्नत्ता, तं जहा—सन्निदिट्ठंते य असन्निदिट्ठंते य, से किं तं सन्निदिट्ठंते?, २ जे इमे सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा, एतेसि णं छज्जीवनिकाए पडुच्च, तं०—पुढविकायं

जाव तसकायं, से एगतिओ[पइन्नं कुज्जा]पुढविकाएणं किच्चं करेइ[वि] कारवेइ[वि], तस्स णं एवं भवइ–एवं खलु अहं पुढविकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवइ–इमेण वा[इमेण वा], से य तेणं पुढविकाएणं किच्चं करेति वि कारवेति वि, से णं ताओ पुढविकायाओ अस्संजयाविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एवं जाव तसकाएत्ति भाणियव्वं । से एगतिओ छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति–एवं खलु अहं छज्जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति–इमेहिं वा [इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेइ वि], से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजयअविरयअप्पडिहयपच्चक्खायपापकम्मे, तं जहा–पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस खलु भगवता अक्खाए–असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सतो पावे य से कम्मे कज्जति, से तं सन्निदिट्ठंते ।

व्याख्या—यद्यपि सर्वेषु जीवेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषु वधकचित्तं नोत्पद्यते तथाप्यसावविरतिप्रत्ययत्वात्तेष्वदुष्टकर्त्तैर

एव कथ्यते, अस्य चार्थस्य सुखप्रतिपत्तये भगवता द्वौ दृष्टान्तौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–संज्ञिदृष्टान्तोऽसंज्ञिदृष्टान्तश्च । अथ कोऽयं संज्ञिदृष्टान्तः ? ये केचन इमे संज्ञिनः पंचेन्द्रियाः पर्याप्तकाः, एषां च मध्ये कश्चिदेकः षड्जीवनिकायान् प्रतीत्यैवम्भूतां 'प्रतिज्ञां' नियमं कुर्यात्, यथाऽहं षड्जीवनिकायमध्ये पृथिवीकायेनैवैकेन वालुकाशिलोपललवणादिस्वरूपेण 'कृत्यं' कार्यं कुर्यां, स चैवं कृतप्रतिज्ञस्तेन तस्मिँस्तस्माच्च तं करोति कारयति च, शेषकायेभ्योऽहं विनिवृत्तः, तस्य च कृतनियमस्यैवम्भूतो भवत्यध्यवसायः–खल्वहं पृथिवीकायेन कृत्यं करोमि कारयामि [च], तस्य च सामान्यकृतप्रतिज्ञस्य विशेषाभिसन्धिर्नैव भवति, यथाऽहं कृष्णेन वा श्वेतेन वा पृथिवीकायेन कार्यं करोमि [कारयामि च], सामान्येन वचसाऽहं पृथिवीकायारम्भं करिष्यामि एवं स सर्वस्मात्पृथ्वीकायादनिवृत्तोऽप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा भवति, तत्र सर्वत्र पृथिवीकाये खननस्थाननिषीदनत्वग्वर्त्तनोच्चारप्रश्रवणादि[करण]क्रियासद्भावात्सर्वस्मात्पृथिवीकायादनिवृत्तत्वात्, एवमप्तेजोवायुवनस्पतिष्वपि वाच्यं, तत्राप्कायेन स्नानपानावगाहनभाण्डोपकरणधावनादिषूपयोगः, तेजस्कायेनापि [पचनपाचनवितापनप्रकाशनादिषु, वायुनाऽपि] व्यजनतालवृन्तोत्पादितव्यापारादिषु प्रयोजनं, वनस्पतिनाऽपि–कन्दमूलफलपत्रत्वक्शाखाद्युपयोग, एवं विकलेन्द्रिय–पञ्चेन्द्रियेष्वप्यायोज्यम् । तथैकः कश्चित् षट्स्वपि जीवनिकायेष्वविरतोऽसंयतत्वाच्च तैरसौ 'कार्यं' सावद्यानुष्ठानं स्वयं करोति कारयति च परैस्तस्य च क्वचिदपि निवृत्तेरभावादेवम्भूतोऽध्यवसायो भवति, तद्यथा–एवं खल्वहं षड्भिरपि जीवनिकायैः सामान्येन कृत्यं करोमि, न पुनस्तद्विशेष प्रतिज्ञेति, स च तेषु षट्स्वपि जीवनिकायेष्वसंयतोऽप्रतिहतप्रत्याऽख्यातपापकर्मा भवति । एवमष्टादशपापस्थानकेष्वप्यायोज्यम् । तदेवमसौ हिंसादीन्यकुर्वन्नपि अविरतत्वात्-

त्प्रत्ययिकं कर्म बध्नाति । एवं देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वपि जन्तुषु अविरतत्वादमित्रभूतो भवति तत्प्रत्ययिकं च कर्माऽचिनोति, सोऽयं संज्ञिदृष्टान्तोऽभिहितः, स च कदाचिदेकमेव पृथ्वीकायं व्यापादयति शेषेषु निवृत्तः, कदाचिद् द्वावेवं त्रिकादिकाः संयोगा भणनीयाः, यावत्सर्वानपि व्यापादयतीति । स सर्वेषां व्यापादकत्वेन व्यवस्थाप्यते, सर्वत्रिषयारम्भप्रवृत्तेः, यथा कश्चिद्ग्रामघाताय प्रवृत्तः, यद्यपि च तेन विवक्षितकाले केचन पुरुषा न दृष्टास्तथाप्यसौ ततोऽनिवृत्तत्वात्तद्घातक इत्युच्यते, एवं जीवोऽप्यविरतत्वात् प्राणातिपातमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहक्रोधमानमायालोभादिकमकुर्वन्नपि तत्कर्माऽचिनोति, अष्टादशपापस्थानान्यकुर्वतोऽपि कर्मबन्धः स्यादविरतत्वादिति भावः । इति संज्ञिदृष्टान्तः, अधुना असंज्ञिदृष्टान्तः कथ्यते—

से किं तं असन्निदिट्ठंते ? जे इमे असन्निणो पाणा, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा वेगतिया तसा पाणा, जेसिं णो तक्काइ वा सन्नाति वा पन्नाति वा मणेति वा वईति वा सयं वा करणाए अन्नेहिं वा काराविचए करंतं वा समणुजाणित्तए, तेवि णं बाला सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा राओ वा सुत्ता वा जागरमाणा वा अमित्तभूता मिच्छासंठिया निच्चं पसढविउवातचित्तदंडा, तं० पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले । इच्चेवं [जइवि] जाव (?) नो चेव णं मणे नो चेव णं वई [तहवि] पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए

जूरणयाए तिप्पणयाए पिट्टणयाए परितप्पणयाए ते दुक्खण–सोयण जाव परितप्पणवहबंधण-परिकिलेसाओ अप्पडिविरता भवंति ।

व्याख्या—'**से किं तं असन्निदिट्ठंते**' इत्यादि, 'असंज्ञिनो' मनोविकलाः सुप्तमत्तमूर्च्छितादिवत्, ये इमे असंज्ञिनः पृथिवीकायिकाः यावद्वनस्पतिकायिकास्तथा षष्ठा अप्येके त्रसाः प्राणिनो विकलेन्द्रियाः यावत्सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियास्ते सर्वेऽप्यसंज्ञिनो, येषां नो 'तर्को' विचारो मीमांसाविशिष्टविमर्शो विद्यते, यथा–कस्यचित्संज्ञिनो मन्दमन्दप्रकाशे स्थाणुपुरुषोचिते देशे किमयं ? स्थाणुरुत पुरुष इत्येवमात्मक ऊह–स्तर्कः सम्भवति, नैवं तेषामसंज्ञिनां तर्कः सम्भवतीति । तथा 'संज्ञा' पूर्वोपलब्धेऽर्थे तदुत्तरकालपर्यालोचनं, सा संज्ञा येषां नास्ति, तथा 'प्रज्ञा' बुद्धिः-साऽपि नास्ति, तथा मनस्तथा वाक्वचनं, साऽपि न विद्यते, तथा स्वयं करोमि अन्यैर्वा कारयामीत्येवम्भूतोऽध्यवसायो नास्ति, तेऽप्यसंज्ञिनो बालवद्बाला दिवा रात्रौ [वा] सुप्ता जाग्रदवस्था वा सर्वजीवानाममित्रभूता उच्यन्ते, विरतेरभावात् । एवमष्टादशपापस्थानकेष्वध्यायोज्यन्ते । असंज्ञिनो हि विरतेरभावादविरताः, अविरतत्वाच्च कर्म्मणां बन्धका एवेति । यद्यप्यसंज्ञिनो [विशिष्ट] मनोव्यापाररहितास्तथाऽपि सर्वप्राणिनां दुःखोत्पादनतया तथा शोचनतया–शोकोत्पादनतया तथा जूरणतया–वयोहानिरूपया तथा '**तिप्पणयाए**' त्रिभ्यो मनोवाक्कायरूपेभ्यः पातनं त्रिपातनं, तद्भावस्तया, यदि वा '**तिप्पणयाए**'त्ति परिदेवनतया तथा '**पिट्टणयाए**' मुष्टिलोष्टादिप्रहारेण तथा [तथाविध] परितापनतया–बहिरन्तश्च पीडया, ते चासंज्ञिनो

यद्यपि देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां, न सर्वेषां दुःखमुत्पादयन्ति तथापि विरतेरभावात्तत्प्रत्ययिकेन कर्मणा बध्यन्ते, तदेवं विप्रकृष्टविषयेऽपि बन्धकाः स्युरविरतत्वात् । अथोपसंजिहीर्षुराह इति—

इति खलु ते असन्निणो वि सत्ता अहोनिसं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति, जाव अहोनिसं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति ।

व्याख्या—'इति खलु' इह खलु ये इमे पृथिवीकायादयोऽसंज्ञिनः प्राणिनस्तेषां न तर्को न संज्ञा न प्रज्ञा न मनो न वाक् [न] स्वयं कर्तुं नान्येन कारयितुं न कुर्वन्तमनुमन्तुं वा प्रवृत्तिरस्ति, ते चाहर्निशममित्रभूता मिथ्यासंस्थिता नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डा दुःखोत्पादनं यावत् परितापनपरिक्लेशादप्रतिविरता, असंज्ञिनोऽपि सन्तोऽहर्निशं प्राणातिपाते कर्त्तव्ये तद्योग्यतया तदसम्प्राप्तावपि ग्रामघातकवदुपाख्यायन्ते—कथ्यन्ते, यावन्मिथ्यादर्शनशल्ये उपाख्यायन्ते, एतावता असंज्ञिनामपि प्राणिनां किमप्यकुर्वतामपि अविरतत्वात्पापकर्मबन्धो जायत इति भावः । तदेवं *दृष्टान्तद्वयं प्रदर्श्य तत्प्रसि*-द्धमेवार्थशेषं प्रतिपादयितुं शिष्यः प्रश्नं करोति—किमेते सत्त्वाः संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च भव्याभव्यत्ववन्नियतरूपा एवाहोस्वित् संज्ञिनो भूत्वा असंज्ञित्वं प्रतिपद्यन्ते असंज्ञिनोऽपि संज्ञित्वमित्येवं शिष्येण प्रतिपादिते सत्याहाचार्यः—

सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सन्निणो हुच्चा असन्निणो हुंति असन्निणो हुच्चा सन्निणो हुंति । होच्चा सन्नी अदुवा असन्नी ।

व्याख्या—ये वेदान्तवादिनो वादिनस्ते एवं प्रतिपादयन्ति 'पुरुषः पुरुषत्वमेवाश्नुते पशुरपि पशुत्वमेवे'ति, तदत्रापि संज्ञिनः संज्ञिन एव भविष्यन्ति असंज्ञिनोऽपि असंज्ञिन इति, तन्मतव्यवच्छेदार्थमाह—'सव्वजोणिया वी'त्यादि, यदि वा किं संज्ञिनोऽसंज्ञिकर्मसम्बन्धं प्राक्तने कर्मणि सत्येव कुर्वन्ति ? किं वा नेत्येवमसंज्ञिनोऽपि संज्ञिकर्मबन्धनं प्राक्तने सत्येव कुर्वन्त्याहोस्विन्नेत्येतदाशङ्क्याह—'सव्वजोणिया वी'त्यादि, सर्वा योनयो येषां ते सर्वयोनयः, संवृतविवृतोभय-शीतोष्णोभय-सचित्ताचित्तोभयरूपयोनय इत्यर्थः। सर्वे योनयोऽपि खलु सत्त्वाः पर्याप्त्यपेक्षया यावन्मनःपर्याप्तिर्न निष्पद्यते तावदसंज्ञिनः करणतः सन्तः पश्चात्संज्ञिनो भवन्ति एकस्मिन्नेव जन्मनि, अन्यजन्मापेक्षया त्वेकेन्द्रियादयोपि सन्तः पश्चान्मनुष्यादयो भवन्तीति, तथाभूतकर्मपरिणामात्, न पुनर्भव्याभव्यत्ववद्व्यवस्थानियमो, भव्याभव्यत्वे हि न कर्मायत्ते, अतो नानयोर्व्यभिचारः। ये पुनः कर्मवशगास्ते संज्ञिनो भूत्वाऽन्यत्रासंज्ञिनो भवन्ति, असंज्ञिनश्च भूत्वा संज्ञिन इति। वेदान्तवादिमतस्य तु प्रत्यक्षेणैव व्यभिचारः समुपलभ्यते, तथाहि—संज्ञ्यपि कश्चिन्मूर्च्छाद्यवस्थायामसंज्ञित्वं प्रतिपद्यते मूर्च्छापगमे पुनः संज्ञित्वमिति, जन्मान्तरे तु सुतरां व्यभिचारः, तथा प्रबुद्धो निद्रोदयात्स्वपिति सुप्तश्च प्रतिबुध्यते, एवं स्वापप्रबोधावस्था एकस्मिन्नेव भवे जीवस्य जायते, एवं संज्ञित्वमसंज्ञित्वमप्येकस्मिन्नेव भवे जन्तोरविरुद्धमिति। एवं परभवेऽपि संज्ञ्यसंज्ञी स्यादसंज्ञी च संज्ञी स्यात्। तथा पुरुषो देवत्वं देवश्च पुरुषत्वमित्येवं सर्वत्र योज्यम्।

तत्थ से अविवि[चि]त्ता अविधूणित्ता असंमुच्छित्ता अणणुतावित्ता असन्निकायाओ [वा]

(ऽसंज्ञिकायात्) सन्निकायं संकमिंति (संकामन्ति) १, सन्निकायाओ [वा] असन्निकायं संकमिंति २, सन्निकायाओ [वा] सन्निकायं संकमिंति ३, असन्निकायाओ [वा] असन्निकायं संकमिंति ४ ।

व्याख्या—तत्र प्राक्तनं कर्म यदुदीर्णं यच्च बद्धमास्ते, तस्मिन् सत्येव तत्कर्म 'अविविच्य' अपृथक्कृत्य तथाऽविधूयाऽसमुच्छिद्यानुताप्य तदेवमपरित्यक्तकर्माणोऽसंज्ञिकायात्संज्ञिकायं सङ्क्रामन्ति तथा संज्ञिकायादसंज्ञिकायमिति [संज्ञिकायात्संज्ञिकायं असंज्ञिकायादसंज्ञिकायं] । त[य]था नारकाः—सावशेषकर्माण एव नरकादुद्वृत्य प्रतनुवेदनेषु तिर्यक्षूत्पद्यन्ते, एवं देवा अपि प्रायस्तत्कर्मशेषतया शुभस्थानेषूत्पद्यन्त इत्यवगन्तव्यम् । अत्र चतुर्भङ्गिका सूत्रेणैव दर्शिता ।

जे एए सन्नी वा असन्नी वा सव्वे ते मिच्छायारा[निच्चं]पसढविउवातचित्तदंडा, तं जहा—पाणातिवाते वा जाव मिच्छादंसणसल्ले ।

व्याख्या—सर्वेऽप्येते संज्ञिनोऽसंज्ञिनो वा मिथ्याचारा, अप्रत्याख्यानित्वादित्यभिप्रायः, सर्वजीवेष्वपि नित्यं प्रशठव्यतिपातचित्तदण्डा भवन्तीत्येवम्भूताश्च प्राणातिपाताद्येषु सर्वेष्वप्याश्रवद्वारेषु वर्त्तन्त इति । तदेवं व्यवस्थिते यदुक्तं परेण तद्यथा—'इहाविद्यमानाऽशुभयोगसम्भवे कथं पापकर्म बध्यते ?' इत्येतन्निरस्तं, विरतेरभावादकुर्वतामपि पापं लगत्येवेति भावः ।

एवं खलु भगवया अक्खाए—असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमणवयणकायवक्के सुविणमवि ण पासइ पावे य से कम्मे कज्जति । [सू० ४]

व्याख्या—एवं 'भगवता' तीर्थकृताऽऽख्यातमित्यादि यत्प्राक्प्रतिज्ञातं तदेवास्मिन् सूत्रालापके दर्शितं, व्याख्यानं प्राग्वत् ज्ञेयमिति, पापं च कर्म्म लगत्येव । तदेवमप्रत्याख्यानिनः कर्म्मसम्भवात्तत्सम्भवे च नारकतिर्यङ्नरामरगतिलक्षणं संसारमवगम्य संजातवैराग्यः शिष्यः आचार्यं प्रति प्रवणचेताः प्रश्नयितुमाह—

चोयगः—से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवति ? ।

व्याख्या—शिष्यः प्राह—भगवन् ! किमनुष्ठानं स्वतः कुर्वन् ? किं वा परं कारयन् ? केन प्रकारेण संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा जन्तुर्भवति ? इत्येवं पृष्टे सत्याचार्य आह—

तत्थ खलु भगवया छज्जीवनिकाया हेऊ पन्नत्ता, [तं जहा—] पुढविकाइया जाव तसकाइया, से जहा नामए ममं अस्सातं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूएण वा कवालेण वा आतालिज्जमाणस्स वा जाव उद्दविज्जमाणस्स वा लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं

पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आताडिज्जमाणा वा उवहम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा जाव उवद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारकं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति । एवं नच्चा सव्वे पाणा [जाव सव्वे सत्ता] न हंतव्वा जाव न उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे धुवे णितिए सासए समिच्च लोगं खेदन्नेहिं पवेइए ।

व्याख्या—तत्र खलु भगवता षड्जीवनिकायाः संयमसद्भावे हेतुत्वेनोपन्यस्ताः, यथा प्रत्याख्यानरहितस्य षड्जीवनिकायाः संसारगतिनिबन्धनत्वेन कथिताः एवं त एव प्रत्याख्यानिनो मोक्षाय भवन्तीति, तथा चोक्तम्—"×जे जत्तिया य हेऊ, भवस्स ते चेव तत्तिया मोक्खे । गणणाईया लोगा, दोण्हवि पुण्णा भवे तुल्ला ॥ १ ॥" इदमुक्तं भवति–यथाऽऽत्मनो दण्डाद्युपघाते दुःखमुत्पद्यते एवं सर्वेषामपि प्राणिनामित्यात्मोपमया तदुपघातान्निवर्त्तते, एष धर्म्मः सर्वापायत्राणलक्षणो ध्रुवो नित्यः शाश्वतः परैः क्वचिदप्यस्खलितो युक्तिसङ्गतत्वात् । अयं च धर्म्मः सम्यक्शुद्ध इत्यवगम्य लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं खेदज्ञैः प्रवेदितः ।

एवं से भिक्खू विरते पाणाइवायाओ जाव मिच्छादंसणसल्लाओ, से भिक्खू णो दंतपक्खा-

---

× ये यावन्तश्च हेतवो भवस्य ते तावन्तश्चैव मोक्षस्य । गणनातिगा लोका द्वयोरपि पूर्णा भवेयुस्तुल्याः ॥ १ ॥

लणेणं दंते पक्खालेज्जा, नो अंजणं नो वमणं नो धू[वणित्तं]मणत्तं पि आ[इते]दत्ते, से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे, एस खलु भगवया अक्खाए संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, अकिरिए संवुडे एगंतपंडिए यावि भवति त्तिबेमि । [सू० ५] ।

बीयसुयक्खंधस्स चउत्थं पच्चक्खाणकिरियानाम अज्झयणं, समत्तं ।

व्याख्या—एवं स भिक्षु–र्निवृत्तः सर्वाश्रवद्वारेभ्यो दन्तप्रक्षालनादिकाः क्रिया अकुर्वन् सावद्यक्रियाया अभावादक्रियोऽक्रियत्वाच्च प्राणिनामलूषकोऽव्यापादको यावदेकान्तेनैवासौ पण्डितो भवति । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिवरगुम्फितायां श्रीसूत्रकृताङ्गदीपिकायां द्वितीयश्रुतस्कन्धे समाप्तं प्रत्याख्यानक्रियाख्यं चतुर्थमध्ययनमिति ॥ ४ ॥

अथ पञ्चममाचारश्रुताध्ययनम्

साम्प्रतं पञ्चममारभ्यते, तत्रेयमादिगाथा—

आदाय बंभचेरं च, आसुपन्ने इमं वयं । अस्सिँ धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

व्याख्या—'आदाय' गृहीत्वा, किं तद् ? ब्रह्मचर्यं–सत्य-भूतदया-तप-इन्द्रियनिरोधलक्षणं, एतन्मौनीन्द्रप्रवचने ब्रह्मचर्यमित्युच्यते, तदादाय 'आशुप्रज्ञः' सदसद्विवेकज्ञः 'इमां' समस्ताध्ययनेनाभिधीयमानां वाचं[इदं जगत्] शाश्वतमेवाशाश्वतमेव वा, इत्यादिकां कदाचिदपि 'नाचरेत्' न कथयेत्, तथाऽस्मिन्धर्म्मे सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन् अनाचारं–सावद्यानुष्ठानरूपं 'न समाचरेत्' न विदध्यात्, यदि वा केवलिप्रणीते धर्म्मे व्यवस्थितः 'इमां' वक्ष्यमाणां वाचमनाचारं च कदाचिदपि नाचरेदिति श्लोकार्थः ॥ १ ॥

अथाचार्योऽनाचारं दर्शयितुं यथावस्थितलोकस्वरूपप्रकटनपूर्वकमाह—

अणादीयं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो । सासयमसासए वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

व्याख्या—चतुर्दशरज्ज्वात्मकं लोकमनादिकमनवदग्रं[–अनन्तं]च परिज्ञाय–अपर्यवसानं च ज्ञात्वा शाश्वतमशाश्वतं वा इत्येकान्तेन न वदेत्, इत्येवम्भूतां दृष्टिं न धारयेत्, पण्डितस्त्वेकान्तेन शाश्वतमेवाशाश्वतमेव लोकं न वदेदिति गाथार्थः ॥२॥

किमित्येकान्तेन न वदेदित्याह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई । एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

व्याख्या—अयं लोको नित्य एवानित्य एव वा, अथवा सर्वं वस्तु नित्यमेवानित्यमेव वा, एताभ्यां स्थानाभ्यामभ्युपगम्यमानाभ्यां अनयोर्वा पक्षयोर्व्यवहारो लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो न विद्यते, एतावता एकान्तपक्षं नाश्रयेत्, एकान्तपक्षाश्रयणं त्वनाचारः, स्याद्वादपक्षाश्रयणं त्वाचार इति । अत्र हेतुयुक्तयो बृहट्टीकातोऽवसेया, अत्र तु संक्षेपेण सूत्रार्थस्यैव प्रकाशनमिति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तथाऽन्यमप्यनाचारं निषेद्धुकाम आह—

समुच्छिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा । गंठिगा वा भविस्संति, सासयंति व णो वए ॥ ४ ॥

व्याख्या—सम्यङ्निरवशेषतया 'उच्छेत्स्यन्ति' उच्छेदं यास्यन्ति–क्षयं यास्यन्ति यदिवोच्छेत्स्यन्ति–सिद्धिं यास्यन्ति, के ते? शास्तारः–तीर्थङ्करास्तच्छासनप्रतिपन्ना वा 'सर्वे' निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्या भव्याः, ततश्चोत्सन्नभव्यं जगत्स्यादिति, अत्र शुष्कतर्काभिमानग्रहगृहीता युक्तिं प्रकाशयन्ति–जीवसद्भावे सत्यप्यपूर्वोत्पादाभावात् अभव्यस्य च सिद्धिगमनासम्भवात् कालस्य चानन्त्यात् निरन्तरं सिद्धिगमनसम्भवेन तद्व्ययोपपत्तेरपूर्वभव्यजीवोत्पत्तेरभावाद्भव्योच्छेद इत्येवं नो वदेत्, तथा सर्वेऽपि प्राणिनः 'अनीदृशाः' न सदृशाकाराः सन्तीत्येवमपि नो वदेत् । तथा ग्रन्थिकाः सत्त्वाः–सर्वेऽपि

प्राणिनः कर्मग्रन्थोपेता एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत् । इदमुक्तं भवति–सर्वेऽपि प्राणिनः सेत्स्यन्त्येव कर्माबृता वा सर्वे भविष्यन्तीत्येवमेकमपि पक्षमेकान्तिकं नो वदेत् । यदि वा 'ग्रन्थिका' इति ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो वदेत्, तथा शा[श्वताः]स्तारः सर्वकालस्थायिनस्तीर्थकरा भविष्यन्ति, नोच्छेदं यास्यन्ति इत्येवमपि नो वदेत् ॥ ४ ॥

तदेवं दर्शनाचारवादनिषेधं वाङ्मात्रेण प्रदर्श्याधुना युक्तिं दर्शयितुमाह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती । एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

व्याख्या—सर्वे शास्तारः क्षयं यास्यन्ति शाश्वता वा भविष्यन्तीति, यदि वा सर्वे शास्तारस्तद्दर्शनप्रपन्ना[वा] सेत्स्यन्ति, शाश्वता वा भविष्यन्ति, यदि वा सर्वे प्राणिनो विसदृशाः सदृशा वा, तथा ग्रन्थिकसत्त्वास्तद्रहिता वा भविष्यन्तीत्येवमनयोर्द्वयोः स्थानयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाहि–'सर्वे शास्तारः क्षयं यास्यन्ती'त्येतदयुक्तं, क्षयनिबन्धनस्य कर्मणोऽभावात् सिद्धानां क्षयाभावः, [अथ]भवस्थकेवल्यपेक्षया चेदभिधीयते तदप्ययुक्तं, यतोऽनाद्यनन्तानां केवलिनां सद्भावात्, भरतेषु केवलिनां विरहे महाविदेहेषु सर्वदा केवलिसद्भावः । तथा सर्वेऽपि भव्याः सेत्स्यन्तीत्येतदपि न स्यात्, यतः श्रीभगवत्यां जयन्तीप्रश्नाधिकारे "सव्वे वि णं भंते! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति ?" भगवानाह—"हंता जयंती! भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति ××× भवसिद्धियविरहिए लोए भविस्सइ ? नो इणमट्ठे समट्ठे" इत्यादिभगवदुक्तवचनप्रामाण्याद्भव्यजीवविरहितं जगन्न भविष्यति, युक्तिश्चात्र भगवतीवृत्तितोऽवसेया, तथा च "जइया होही

पुच्छा, जिणंदपासंमि उत्तरं तइया । इक्कस्स निगोयस्स, अणंतभागो य सिद्धिगओ ॥ १ ॥" इति वचनात् सर्वेऽपि न सेत्स्यन्ति, न भव्यजीवविरहितं जगद्भविष्यति । न सिद्धिक्षेत्रं पूर्णं भविष्यति । सिद्धिं च निरन्तरमेव प्रयास्यन्ति, अतो "तमेव सच्चं नीसंकं, जं जिणेहिं पवेइयं" इति वचनादेकान्तपक्षं नाश्रयेत् । अथ शाश्वतत्वमपि शास्तॄणां न प्ररूपयेत्, यतस्तेषामपि सिद्धिगमनसद्भावादशाश्वतत्वमिति, अत एकान्तेनाशाश्वतत्वपक्षमपि न श्रयेत् । तथा सर्वेऽपि प्राणिनः चित्रकर्मसद्भावान्नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिभिर्भिन्नत्वात् विसदृशास्तथोपयोगासङ्ख्येयप्रदेशत्वामूर्तत्वादिधर्मैः कथञ्चित् सदृशा इति । तथोल्लसितसद्वीर्यतया केचिद्भिन्नग्रन्थयोऽपरे च तथाविधपरिणामाभावाद्ग्रन्थिकसत्त्वा एव भवन्तीत्येवं व्यवस्थिते नैकान्तपक्षो भवतीति निषिद्धः, तदेवमेतयोरेव द्वयोः स्थानयोरुक्तनीत्याऽनाचारं विजानीयादिति स्थितम् । अपि चागमेऽनन्तानन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्तभाग एव सिद्ध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते, यदा चैवम्भूतं तदानन्त्यं, तत्कथं तेषां क्षयः ? । युक्तिरप्यत्र—सम्बन्धिशब्दावेतौ, मुक्तिः संसारं विना न भवति संसारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, ततश्च भव्योच्छेदे संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते—नानयोर्व्यवहारो युज्यत इति ॥ ५ ॥

अधुना चारित्राचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ खुड्डगा पाणा, अदुवा संति महालया । सरिसं तेहिं वेरंति, असरिसंती य नो वदे ॥ ६ ॥

व्याख्या—ये केचन क्षुद्राः प्राणिनः एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रिया, अथवा 'महालया' महाकाया

हस्त्यश्वादयः अल्पकायाः—कुन्थ्वादयः, तेषां व्यापादने सदृशं (विसदृशं वा) वैरमिति एवं (एकान्तेन) नो वदेत्, यतः बन्धोऽपि अध्यवसायवशाद्भवति, तीव्राध्यवसायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महान् बन्धः, अकामस्य अनाभोगादिना महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥७॥

व्याख्या—आभ्यामेव स्थानाभ्यां अनयोर्वा स्थानयोर्महाकायाल्पकायव्यापादने कर्मबन्धः सदृशः असदृशो वा, एतयोः स्थानयोर्व्यवहारो न विद्यते, निर्युक्तिकत्वान्न युज्यते । एतयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं विजानीयात्, यतो—नहि जीवव्यापत्त्या हिंसोच्यते, जीवस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्त्या हिंसा स्यात्, तथा चोक्तं—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ १ ॥" अपि च हिंसा चतुर्धा, एका द्रव्यतोऽपि भावतोऽपि १, एका द्रव्यतो न भावतः २, एका भावतो हिंसा न द्रव्यतः ३, एका न द्रव्यतो न भावतः ४, अयमेको भङ्गः शुद्धः, अबन्धकत्वात्, द्वितीयो भङ्गः जातेऽपि द्रव्यतः प्राणिवधे स्वल्पः कर्मबन्धः, भावतः परिणामस्य शुद्धत्वात् । भावसहितस्यैव कर्मबन्धोऽभिहितः, तथाहि—वैद्यस्यागमानुसारेण सम्यक्क्रियां कुर्वतोऽपि यद्यातुरविपत्तिर्भवति तथापि न वैरानुषङ्गो भवेद्दोषाभावात् । अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो भावदोषात् कर्मबन्धः, यतः—"उच्चालियंमि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी,

मरिज्ज तज्जोगमासज्ज ॥ १ ॥ न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए। अणवज्जे य पओगे, ण सव्वभावेण सो जम्हा ॥ २ ॥ अज्झत्थविसोहिए, जीवनिकाएहिं संघ(डे)डो लोए। देसियमहिंसयत्तं, जिणेहिं तेलोक्कदंसीहिं ॥ ३ ॥ नाणी कम्मस्स खयट्ठ-मुट्ठिओ नो ठिओ य हिंसाए। जयइ असढं अहिंस-(त्थ)-मुट्ठिओ अवहओ सो उ ॥ ४ ॥ तस्स असंचयओ सं-चयओ(य) जाइं सत्ताइं। जोगं पप्प विणस्संति, नत्थि हिंसाफलं तस्स ॥ ५ ॥ जो य पमत्तो पुरिसो, तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता। वाविज्जंते नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ ॥ ६ ॥ जे वि न वाविज्जंती, नियमा तेसिं पि हिंसओ होई। सावज्जो य पओगेण, सव्वभावेण सो जम्हा ॥ ७ ॥ आया चेव अहिंसा, आया हिंसत्ति निच्छओ एसो। जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो ॥ ८ ॥ जो य पओगं जुंजइ, हिंसत्थं जो य अन्नभावेण। अमणो य जो पउंजइ, इत्थ विसेसो महं वुत्तो ॥ ९ ॥ हिंसत्थं जुंजंतो, सुमहं दोसो अ[प्प]णत्तरं इयरो। अमणो य अप्पदोसो, जोगनिमित्तं च विन्नेओ ॥ १० ॥ रत्तो वा मूढो वा, जो पउंजइ पओगं। हिंसा वि तत्थ जायइ, तम्हा सो हिंसओ वुत्तो ॥ ११ ॥ न य हिंसामित्तेणं, सावज्जेणावि हिंसओ होई। सुद्धस्स य संपत्ती, अफला भणिया जिणवरेहिं ॥ १२ ॥ जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥ १३ ॥" अत्र पूर्वोक्तचतुर्भङ्गिकामध्ये प्रथमतृतीयभङ्गावशुद्धौ, शेषौ शुद्धौ, इत्यलं विस्तरेण। एतावता महत्प्राणिवधे अल्पकायसत्त्वव्यापादने च सदृशं वैरं सदृशः कर्मबन्धः इत्येवं नो वदेत् इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अथ पुनरपि चारित्रमधिकृत्याहारमधिकृत्याचारानाचारौ प्रतिपादयितुकाम आह—

अहाकम्माणि भुंजंति, अन्नमन्ने सकम्मुणा। उवलित्तेति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो ॥ ८ ॥

व्याख्या—साधुमाश्रित्य कर्माणि—आधाकर्माणि, तानि च वस्त्रभोजनवसत्यादीनि, एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जन्ते—एतैरुपभोगं ये कुर्वन्ति 'अन्योऽन्यं' परस्परं तान् स्वकीयेन कर्मणोपलिप्तान् विजानीयादित्येवं नो वदेत्, [तथाऽनुपलिप्तानिति वा नो वदेत्]। एतदुक्तं भवति—अधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुञ्जानः कर्मणा नोपलिप्यते तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाऽऽहारगृद्ध्या आधाकर्म भुञ्जानस्य तन्निमित्तकर्मबन्धसद्भावात्, अतोऽनुपलिप्तानपि नो वदेत्, यथाऽवस्थितमौनीन्द्रागमज्ञस्य त्वेवं युज्यते वक्तुं—आधाकर्मोपभोगेन स्यात्कर्मबन्धः स्याच्चेति, उक्तं च—" किञ्चिच्छुद्धं कल्प्य-मकल्प्यं वा स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्। पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १ ॥" अतः आधाकर्मणोपलिप्तान् वा अनुपलिप्तान् वा इत्येकान्तेन नो वदेत् ॥ ८ ॥ किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यते ? इत्याह—

एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जई। एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

व्याख्या—आभ्यां स्थानाभ्यामनयोर्वा स्थानयोराधाकर्मोपभोगेन कर्मबन्ध[भावा]भावभूतयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाहि—श्रुते हि कदाऽपि कस्यामप्यवस्थायामाधाकर्मग्रहणमप्यनुज्ञातमस्ति " सव्वत्थ संजमं सं-जमाओ अप्पाणमेव रक्खिज्जा। मुच्चइ अइवायाओ, पुणो वि सोही न(त)या (?) विरई ॥ १ ॥" तथा—" संथरणंमि असुद्धं,

दुन्ह वि गिण्हंतदिंतयाणऽहियं, आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे ॥ २ ॥ ” तथा च श्रीभगवत्याम्— “ तहारूवं भंते ! समणं वा माहणं वा फासुयएसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति ? गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जति । तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! बहुतरिया निज्जरा कज्जइ अप्पतरे पावे कम्मे कज्जइ । ” इत्यादिप्रकारेणाधाकर्माप्यनुज्ञातमस्ति, अतः आधाकर्मोपभोगेन कर्मणा लिप्यते इत्येकान्तेन नो वदेत्, नाऽपि तदुपभोगे कर्मबन्धाभाव इत्यपि वदेत्, यतः—आधाकर्मणि निष्पाद्यमाने षड्जीवनिकायवधस्तद्वधे च प्रतीतः कर्मबन्ध इत्य[तोऽ]नयोः स्थानयोरेकान्तेनाश्रीयमाणयोर्व्यवहारो न युज्यते, तथाऽऽभ्यामेव स्थानाभ्यामाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितं ॥ ९ ॥ पुनरन्यथा दर्शनं प्रति वागनाचारं दर्शयितुमाह—

जमिदं ओरालमाहारं, कम्मगं च त[मेव तं] हेव य । सव्वत्थ वीरियं अत्थि, नत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥१०॥

व्याख्या—औदारिकं शरीरं १, तथाऽऽहारकं २, वैक्रियं ३, कार्म्मणं ४, तैजसं ५, एवं पञ्च शरीराणि, तत्र कश्चिदेवं-जानाति—यदेवौदारिकं तदेव कार्म्मणं तैजसं च, यदेव तैजसं कार्म्मणं तदेवौदारिकं तदेवाहारकं तदेव वैक्रियं च, एवंविधां संज्ञां न धारयेत्, एतेषां शरीराणां ऐक्यं न गणयेत्, तथा मिथः पार्थक्यमपि न गणयेत्, कथञ्चिदेकत्रोपलब्धेरभेदः कथञ्चिच्च संज्ञाभेदाद्भेद इति स्थितं, तदेवमौदारिकादीनां शरीराणां भेदाभेदौ प्रदर्श्य सर्वस्यैव द्रव्यस्य भेदाभेदौ प्रदर्शयितु-

काम: पूर्वपक्षं श्लोकपश्चार्द्धेन दर्शयितुमाह—'सव्वत्थ वीरियं' मित्यादि, 'सर्वद्रव्यवीर्यं सर्वद्रव्येषु विद्यते' अयं साँख्याभिप्राय:, साँख्यानां हि सत्त्वरजस्तमोरूपस्य प्रधानस्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, अत: 'सर्वं सर्वात्मक'-मित्येवं व्यवस्थिते सर्वत्र घटपटादावपरस्य व्यक्तस्य [कार्यस्य] 'वीर्यं' शक्तिर्विद्यते, सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्कार्यकारणयोश्चैकत्वात्, अत: 'सर्वं सर्वात्मक'मित्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, तथा "सर्वे भावा: स्वभावेन, स्वस्वभावे व्यवस्थिता:", अत: प्रतिनियतशक्तित्वान्न सर्वत्र सर्वस्य 'वीर्यं' शक्तिरित्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत्, अनेकान्तनिषेधेन स्याद्वादभाषया वदेदिति गाथार्थ: ॥ १० ॥

एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जई। एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ११ ॥

सुगमा×, व्याख्या पूर्ववत्। तथा—

नत्थि लोए अलोए वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १२ ॥

व्याख्या—पञ्चास्तिकायात्मकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको वा लोको नास्ति, एवं संज्ञां नो निवेशयेत्—न धारयेत्, तथा केवलाकाशात्मकोऽलोकोऽपि नास्तीत्येवमपि संज्ञां न निवेशयेत्—न निवेदयेत्, किन्तु 'अत्थि लोए' इत्यादि, किन्तु अस्ति लोक:

× "द्वाभ्यामेताभ्यां शक्तिरस्ति नास्ति वेति, अथवा शरीराणां सर्वेषां भेदोऽभेदो वेति द्वाभ्यां स्थानाभ्यां व्यवहारो न विद्यते, युक्तयो न सङ्गच्छन्ति इत्यर्थ:। एतयो: स्थानयो: प्रवृत्तस्यानाचारं जानीयात्" इति हर्षकुलीयदीपिकायां।

ऊर्द्ध्वाधस्तिर्यग्रूपो वैशाखस्थानस्थितकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषसदृशः पञ्चास्तिकायात्मको वा, युक्तिश्चात्र—यदि सर्वं नास्ति ततः सर्वान्तःपातित्वाल्लोकप्रतिषेधकर्त्तापुरुषोऽपि नास्ति, एवमतो लोकाभावे प्रतिषेधकपुरुषाभावः, पुरुषाभावात्प्रतिषेधस्याप्यभावः, तदेवं व्यवस्थिते लोकोऽप्यस्ति तत्प्रतिपक्षभूतः अलोकोऽप्यस्ति इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १२ ॥

नत्थि जीवा अजीवा वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १३ ॥

व्याख्या—उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ता वा जीवा न विद्यन्ते, तथा अजीवाश्च धर्माधर्माकाशकालपुद्गलात्मकाः गतिस्थित्यवगाहदानच्छायातपोद्द्योतादिवर्त्तनालक्षणा न विद्यन्ते। प्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानत्वाज्जीवा न विद्यन्ते, कायाकारपरिणतानि भूतान्येव धावनवल्गनादिकां क्रियां कुर्वन्तीति। अजीवा अपि न विद्यन्ते, एवंविधां संज्ञां नो निवेशयेत्, नास्तिवादी तु सर्वं नास्तीति प्ररूपयति। 'अत्थि जीवे'त्यादि, अस्ति जीवः अस्त्यजीवः एवंविधां संज्ञां निवेशयेत्। तस्मान्नैकान्तेन जीवाजीवयोरभावः, अपितु सर्वपदार्थानां स्याद्वादाऽश्रयणाज्जीवाजीवयोरस्तित्वं नास्तित्वं च (स्यात्) केनापि प्रकारेणेति। अत्र जीवाजीवयोरस्तित्वे नास्तित्वे च युक्तयोः ग्रन्थान्तरादवसेया इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

नत्थि धम्मे अहम्मे वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि धम्मे अहम्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १४ ॥

व्याख्या—धर्मः श्रुतचारित्राऽत्मको जीवस्यात्मपरिणामोऽस्ति धर्मः कर्मक्षयकारणं, अधर्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपः कर्मबन्धकारणं, धर्मोऽपि नास्ति अधर्मोऽपि नास्ति नैवं संज्ञां निवेशयेत्—नैवं प्ररूपयेदित्यर्थः।

कथं प्ररूपयेत् ? 'अत्थि धम्मे 'त्यादि, अस्ति धर्मः—अधर्मोऽप्यस्ति, यतो धर्माऽधर्ममन्तरेण संसारवैचित्र्यं न स्यात्, यतः—"प्रत्यक्ष एव विश्वेऽस्मिन्, प्रपञ्चः पुण्यपापयोः। त्रि(त्रि)भिन्नं (त्रि) जगत्सर्वं, सुखदुःखव्यवस्थया ॥ १ ॥ एके दधति साम्राज्यं, परे दधति दासताम्।" इत्यादिवचनात्, अतो धर्मः सम्यग्दर्शनादिकोऽस्ति अधर्मोऽपि मिथ्यात्वादिकोऽस्ति इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १४ ॥

नत्थि बंधे व मुक्खे वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि बंधे व मुक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥

व्याख्या—बन्धः कर्मणां 'नास्ति' न विद्यते, अमूर्त्तत्वादात्मनो गगनस्येव न कर्मणां बन्धः, इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, तथा बन्धाभावाच्च मोक्षस्याप्यभाव इत्येवमपि संज्ञां नो निवेशयेत्, किन्तु—'अत्थि बंधे व मुक्खे वा' अस्त्यात्मनो बन्धः कर्मणां, अमूर्त्तस्याप्यात्मनो मूर्त्तैः कर्मपुद्गलैः सह सम्बन्धो—बन्धः, स तु विद्यत एव, आत्मनः सक्रियत्वात्, सक्रियस्य स्यादेव बन्धः, यदा ह्यात्माऽक्रियस्तदा न कर्मबन्धः, बन्धाभावाच्च मोक्ष एव, अतो बन्धोऽप्यस्ति मोक्षोऽप्यस्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अथ बन्धसद्भावे पुण्यपापयोरपि सद्भावः। तर्हि—

नत्थि पुन्ने व पावे वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि पुन्ने व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥

व्याख्या—'नास्ति' न विद्यते 'पुण्यं' शुभकर्मप्रकृतिलक्षणं तथा पाप-मशुभकर्मप्रकृतिलक्षणं 'नास्ति' न विद्यते,

इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, यतः—पुण्यपापयोर्विना जगद्वैचित्र्यं न स्यात् । केषांचिन्मते जगद्वैचित्र्यं नियतिकृतं, नियत्या जगद्वैचित्र्यं स्यात् तदप्ययुक्तम्, यदि नियत्या स्वभावेन वा जगद्वैचित्र्यं स्यात् तदा सकलक्रियावैयर्थ्यं स्यात् । सकलक्रियात एव सकलकार्योत्पत्तिः । यतः—शुभक्रियातः पुण्यं पुण्याच्च सुखं अशुभक्रियातः पापं पापाच्च दुःखमित्यतः 'अत्थि पुन्नं च पावं चे'त्यादि, अस्ति पुण्यं पापं चास्ति एवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

नत्थि आसवे संवरे वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १७ ॥

व्याख्या—आश्रवः प्राणातिपातादिरूपः कर्मोपादानकारणं, तन्निरोधः संवरः एतौ द्वावपि न स्तः, इत्येवं संज्ञां न निवेशयेत्, किन्त्वस्त्याश्रवः संवरश्च, इत्येवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १७ ॥

नत्थि वेयणा निज्जरा वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि वेयणा निज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १८ ॥

व्याख्या—'वेदना' कर्मानुभवलक्षणा तथा 'निर्जरा' कर्मपुद्गलशाटनलक्षणा, एते द्वे अपि न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः—पल्योपमसागरोपमशताऽनुभवनीयं कर्म अन्तर्मुहूर्त्तेनैव क्षयमुपयातीत्यभ्युपगमात्तदुक्तं—*"जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं । तं नाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥ १ ॥" इत्यादि । क्षपकश्रेण्यां तु झटित्येव कर्मणो भस्मीकरणाद्यथाक्रमबद्धस्य चानुभवनाभावेन वेदनाया अभावः, तदभावान्निर्जराया अप-

* यदज्ञानी कर्म क्षपयति बहुकाभिर्वर्षकोटीभिः । तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ १ ॥

भावः, इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । किमिति ? यतः–कस्यचिदेव कर्म्मण एवमनन्तरोक्तया नीत्या क्षपणात्तपसा प्रदेशानुभवेन चापरस्य तूदयोदीरणाभ्यामनुभवनमित्यतोऽस्ति वेदना, आगमोऽप्येवम्भूत एव, तद्यथा–" × पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकंताणं वेइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेइत्ता " इत्यादि । वेदनासिद्धौ च निर्जराऽपि सिद्धेत्यतोऽस्तिवेदना निर्जरा चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १८ ॥

वेदना निर्जरा च क्रियाऽक्रियायत्ते, ततस्तद्भावं प्रतिषेधपूर्वकं दर्शयितुमाह—

नत्थि किरिया अकिरिया वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१९॥

व्याख्या—'क्रिया' परिस्पन्दलक्षणा तद्विपरीता त्वक्रिया, ते द्वे अपि न स्तो–न विद्येते, इत्येवंविधां संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः–शरीरात्मनोर्देशाद्देशान्तरावाप्तिनिमित्ता परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने गगनस्येव बन्धमोक्षाद्यभावः, स च दृष्टेष्टबाधितः, अपि चैकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमोक्षाभावः स्यादित्यतोऽस्ति क्रिया तद्विपक्षभूता चाक्रियाऽप्यस्ति इत्येवंविधां संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अथ सक्रिये आत्मनि सति क्रोधादिसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—

नत्थि कोहे व माणे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २० ॥

× पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां (कर्मणां) वेदयित्वा मोक्षो, नास्त्यवेदयित्वा ।

व्याख्या—स्वपरात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः, स चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्ज्वलनभेदेन चतुर्धाऽऽगमे पठ्यते, तथैतावद्भेद एव 'मानो' गर्वः, तौ द्वावपि 'न स्तो' न विद्येते, इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः—कषायकर्मोदयवर्ती दष्टौष्ठः कृतभृकुटीभङ्गो रक्तवदनो गलत्स्वेदबिन्दुरत्याकुलः क्रोधाध्मातः समुपलभ्यते, केषाञ्चिन्मतेन क्रोधो मानांश एवेत्येतदप्ययुक्तं, क्षपकश्रेण्यां तु भेदेन क्षपणात् क्रोधक्षये न मानस्य क्षयः, पृथक् पृथक् क्षयो द्वयोरपि, तदुभयस्य च नरसिंहव[द्व]स्त्वन्तरत्वादित्यतोऽस्ति क्रोधः, मानोऽप्यस्तीति चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २० ॥

नत्थि माया व लोभे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २१ ॥

व्याख्या—अत्रापि प्राग्वन्मायालोभयोरभाववादिनं निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥

साम्प्रतमेषामेव क्रोधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्नाह—

नत्थि पेज्जे व दोसे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २२ ॥

व्याख्या—प्रीतिलक्षणं प्रेम, पुत्रकलत्रधनधान्याद्यात्मीयेषु रागस्तद्विपरीतस्त्वात्मीयोपघातकारिणि द्वेषस्तावेतौ द्वावपि न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । प्रेमाप्यस्ति द्वेषोऽप्यस्ति, यतः—"को दुःखं पाविज्जा ?, कस्स व सुक्खे हि विम्हओ हुज्जा ? । को व न लहिज्ज ? मुक्खं, रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥ १ ॥ तो बहुगुणनासाणं, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाणं । न हु वसमागंतव्वं, रागद्दोसाण पावाणं ॥ २ ॥" इत्यादिवचनप्रामाण्यान्न तदभावः,

अतः प्रेमाप्यस्ति द्वेषोऽप्यस्ति इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २२ ॥×

नत्थि चाउरंते संसारे, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥

व्याख्या—चत्वारोऽन्ता गतिभेदा नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणा यस्य संसारस्यासौ चातुरन्तः, संसार एव कान्तारो भयैकहेतुत्वात्स चतुर्विधो न विद्यते, अपि तु सर्वेषां संसृतिरूपत्वात् कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वादेकविध एव, अथवा नारकदेवयोरनुपलभ्यमानत्वात्तिर्यङ्मनुष्ययोरेव सुखदुःखोत्कर्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः संसारः, पर्यायनयाश्रयणात्वेकविधः, अतश्चातुर्विध्यं न कथञ्चिद्घटत इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् , अपि त्वस्ति चातुरन्तः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । यदुक्तमेकविधः संसारस्तन्न घटते, यतोऽध्यक्षेण तिर्यङ्मनुष्ययोर्भेदः समुपलभ्यते, तथा [सम्भवानुमानेन] नारकदेवानामप्यस्तित्वाभ्युपगमात् [द्वैविध्यमपि न विद्यते], एवं चातुर्गतिक एव संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २३ ॥

नत्थि देवो व देवी वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २४ ॥

व्याख्या—भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवा न सन्ति तथा देवाभावाद्देव्योऽपि न सन्ति इत्येवं संज्ञां नो

× इतोऽनन्तरं निम्नोद्धृतः श्लोकः सवृत्तिकः समुपलभ्यते हर्षकुलीयायां-" नत्थि रागे व दोसे वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि रागे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥ दी०—रागद्वेषौ न स्तः इति न स्वीकार्यं, तौ विद्येते इति मतिः कार्या, युक्तिः पूर्वोक्ता । (पुनरुक्त एवायम्)

निवेशयेत्, किन्तु देवा देव्यश्च सन्ति, अर्हतां पञ्चसु कल्याणकेषु समागमनदर्शनात् " जिणपंचसु कल्लाणएसु चेव महरिसितवाणुभावाओ। जम्मंतरनेहेण य, आगच्छंती सुरा इहयं ॥ १ ॥" अन्यथा नायान्ति, (यतः–) " चत्तारि पंच जोयण–सयाइं गंधो उ मणुयलोयस्स। उड्ढं वच्चइ जेणं, न हु देवा तेण आवेंति ॥ १ ॥" तथा च ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वमनुमानेन साध्यते, अतो देवा देव्यश्च सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

नत्थि सिद्धी असिद्धी वा, नेवं सण्णं निवेसए। अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २५ ॥

व्याख्या—अशेषकर्मक्षयलक्षणा सिद्धिस्तद्विपर्ययभूता चासिद्धिर्नास्तीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अस्ति सिद्धिरित्येवं संज्ञां निवेशयेत्। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सद्भावात् कर्मक्षयस्य च पीडोपशमनादिना प्रत्यक्षेण-दर्शनात्, अतः कस्यचिदात्यन्तिककर्महानिसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

नत्थि सिद्धी नियं ठाणं, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६ ॥

व्याख्या—सिद्धेरशेषकर्मक्षयलक्षणाया निजं स्थानमीषत्प्राग्भाराख्यं व्यवहारतो, निश्चयतस्तु तदुपरि योजन[चतुर्थ]-क्रोशषड्भागः, तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, किन्तु सिद्धानामवस्थानस्थानं सिद्धाश्च सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेत्, यतः–अयोगिचरमसमये त्रयोदश प्रकृतीः " क्षयं नीत्वा स लोकान्तं, तत्रैव समये व्रजेत्। लब्धसिद्धत्वपर्यायः, परमेष्ठी सनातनः ॥ १ ॥ पूर्वप्रयोगतोऽसङ्ग–भावाद्बन्धविमोक्षतः। स्वभाव-

परिणामाच्च, सिद्धस्योर्ध्वगतिर्भवेत् ॥ २ ॥ कुलालचक्रदोलेषु, मुख्याणां हि यथा गतिः । पूर्वप्रयोगतः सिद्धा, सिद्धस्योर्ध्वगतिस्तथा ॥ ३ ॥ मृल्लेपसङ्गनिर्मोक्षा-द्यथा दृष्टाऽप्स्वलाबुनः । पूर्वसङ्गविनिर्मोक्षा-त्तथा सिद्धिगतिः स्मृता ॥ ४ ॥ एरण्डफलबीजादे-र्बन्धच्छेदाद्यथा गतिः । कर्मबन्धनविच्छेदात्, सिद्धस्यापि तथा भवेत् ॥ ५ ॥ यथाऽधस्तिर्यगूर्ध्वं च, लोष्टवाय्वग्निवीचयः । स्वभावतः प्रवर्त्तन्ते, तथोर्ध्वगतिरात्मनः ॥ ६ ॥ न चाधो गौरवाभावा-न्न तिर्यक् प्रेरकं विना । न च धर्मास्तिकायस्या-भावाल्लोकोपरि व्रजेत् ॥ ७ ॥ मनोज्ञा सुरभिस्तन्वी, पुण्या परमभासुरा । प्राग्भारा नाम वसुधा, लोकमूर्ध्नि व्यवस्थिता ॥ ८ ॥ नृलोकतुल्यविष्कम्भा, सितच्छत्रनिभा शुभा । ऊर्ध्वं तस्याः क्षितेः सिद्धा, लोकान्ते समवस्थिताः ॥ ९ ॥ इसीपब्भाराए, उवरिं खलु जोयणंमि जो कोसो । कोसस्स य छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भणिया ॥ १० ॥" इति सिद्धानां स्थानम् । अथ सिद्धास्तु-" नो किण्हे नो नीले नो लोहिए नो हालिद्दे नो सुक्किल्ले नो सुरभिगंधे नो दुरभिगंधे नो तित्ते नो कडुए नो कसाए नो अंबिले नो महुरे (नो लवणे)नो वट्टे नो तंसे नो चउरंसे नो परिमंडले नो दीहे नो हस्से नो गुरुए नो लहुए नो सीए नो उण्हे नो कक्खडे नो मउए नो इत्थी नो पुरिसे नो अन्नहा " एवं सिद्धाः लोकाग्रपदसंस्थिताः सदाऽव्ययाः अनन्ता अजरामराः सदाऽऽनन्दमया अवतिष्ठन्ते । एवं सिद्धास्तथा सिद्धानां च स्थानं विद्यते, एवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

नत्थि साहू असाहू वा, नेवं सन्नं निवेसए । अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

व्याख्या—'नास्ति' न विद्यते यथोक्तगुणोपेतः साधुस्तदभावाच्च तत्प्रतिपक्षभूतस्यासाधोरप्यभावः, यतः "केवल-मणोहिचउदस-दसनवपुव्वीहिं संपयं रहिए। सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणइ? कज्जभावं च ॥ १ ॥" इत्येवम्भूतां संज्ञां नो निवेशयेत् "कालाइदोसवसओ, कहवि दीसंति तारिसा न जइ। सव्वत्थ तहवि नत्थित्ति, नेव कुज्जा अणासासं ॥ १ ॥ कालोचियजयणाए, मच्छररहियाण उज्जमंताणं। जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जईण सया ॥ २ ॥ अन्नाणनिरंतरतिमिर-पूरपूरियंमि भवभवणे। को पयडइ? पयत्थे, जइ गुरुदीवा न दिप्पंति ॥ ३ ॥ पलए महागुणाणं, हवंति सेवारिहा लहुगुणा वि। अत्थमिए दिणनाहे, अहिलसइ जणो पईवं पि ॥ ४ ॥ अट्ठ गुणाणं मज्झे, इक्केण गुणेण संघपच्चक्खं। तित्थुन्नयं कुणंतो, जुगपवरो सो इहं नेओ ॥ ५ ॥ दुप्पसहंतं चरणं, जं भणियं भगवया इह खित्ते। आणाजुत्ताणं पुण, न होइ अहुणत्ति वामोहो ॥ ६ ॥" श्रीभगवत्यां–"केवइयं कालं तु देवाणुप्पियाणं तित्थे अणुसज्जिस्सइ?, गोयमा! इक्कवीसवास-सहस्साइं ममं तित्थे अणुसज्जिस्सइ, तित्थं पुण चाउवण्णो समणसंघो–समणा समणीओ सावया सावियाओ" इत्यादिभगवद्वचनप्रामाण्यात्तीर्थं यावत् साधवः सन्ति तद्विपरीताश्चासाधवोऽपि सन्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

नत्थि कल्लाण पावे वा, नेवं सन्नं निवेसए। अत्थि कल्लाण पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

व्याख्या—यथेष्टार्थफलसम्प्राप्तिः कल्याणं तच्च विद्यते× तथा पापं पापवान्वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यभावः, इत्येवं रूपां संज्ञां नो निवेशयेत्, यतः-कल्याणपापयोर्विना सुखी दुःखी सरोगी नीरोगी सुरूपः कुरूपो दुर्भगः सुभगो धनी दरिद्रो मूर्खः पण्डितो वेत्यादिको जगद्वैचित्र्यभावोऽध्यक्षसिद्धोऽपि न स्यात्तस्मादस्ति कल्याणं पापं चेत्येवं संज्ञां निवेशये-दिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

न चैकान्तेन[कल्याणं]कल्याणमेव, यतः-केवलिनां प्रक्षीणघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदयसद्भावाच्चथा नारकाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिसद्भावान्नैकान्तेन ते पापवन्त इति, तस्मात्कथञ्चित्कल्याणं कथञ्चित्पापमिति स्थितं। तदेवं कल्याणपापयोरनेकान्तरूपत्वं प्रसाध्य एकान्तं दूषयितुकाम आह—

कल्लाणे पावए वा वि, ववहारो न विज्जई। जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥ २९ ॥

व्याख्या—सर्वथा कल्याणवानेवायं तथा पापवानेवायमित्येवम्भूतो व्यवहारो न विद्यते, एकान्तस्यार्थस्याभावात्, अनेकान्तवादस्यैवाश्रयणात्सर्ववस्तूनामनेकान्ताश्रयणेन[प्राक्]प्रसाधितत्वात्, एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते कुत्रापि वस्तु-विषये इति भावः। यः पुरुष एकान्तेन पुण्यवान् दृश्यते सोऽप्यन्त्यावस्थायां परिणामपरावर्त्ताद्दुर्गतौ प्रयाति यः पापी सोऽपि परिणामवशात्सुगतिगामी स्यात्, अत एकान्तवचनं न ब्रूयात्। तथा वैरं कर्मविरोधो वा वैरं, तद्येन च परोप-

× "तदभावे कल्याणवांश्च न कश्चिद्विद्यते" इति बृहद्वृत्तिः।

साहादिनः एकान्तवादसमाश्रयणेन वा भवति, तत्ते 'श्रमणा' स्तीर्थिकाः 'बालाः' रागद्वेषकलिताः 'पण्डिता' अभिमानिनः शुष्कतर्कदर्पाध्माता न जानन्ति, परमार्थभूतस्याहिंसालक्षणस्य धर्मस्यानेकान्तपक्षस्य वाऽनाश्रयणात् । यदि वा यद्वेदं तत्ते श्रमणा बालाः पण्डिता न जानन्तीत्येवं वाचं न निसृजेत्, तत्तेषां कोपोत्पत्तेः, यश्चैवम्भूतं वचस्तन्न वाच्यं, यतः—
"+अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पेज्ज वा परो । सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहियगामिणि ॥ १ ॥"
इति गाथार्थः ॥ २९ ॥ अपरमपि वाक्संयममधिकृत्याह—

असेसं अक्खयं वा वि, सव्वदुक्खेति वा पुणो । वज्झा पाणा न वज्झत्ति, इति वायं न नीसिरे ॥ ३० ॥

व्याख्या—इह जगति सर्वेऽपि घटपटादयः पदार्था एकान्तेन नित्याः—शाश्वताः, सर्वं जगदकृतं नित्यं एवं न ब्रूयात्, सर्वेषां पदार्थानां प्रतिसमयं चान्यथा भावदर्शनात्, सर्वथा क्षणिकमेवमपि न ब्रूयात् । तथा सर्वं जगद्दुःखात्मकमेवमपि न वदेत्, सुखात्मकस्यापि सम्यग्दर्शनादिभावेन दर्शनात्, यतः—"×तणसंथारनिसण्णोऽवि, मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो ? तं चक्कवट्टीवि ॥ १ ॥" इत्यादि, तथा वध्याश्चौरपारदारिकादयोऽवध्या वा, तत्कर्मानुमतिप्रसङ्गात् *, इत्येवम्भूतां वाचं स्वानुष्ठानपरायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निसृजेत् । तथाहि—सिंहव्याघ्र

+ अप्रीतिकं यया स्यादाशु कुप्येद्वा परः । सर्वथा तां न भाषेत भाषामहितगामिनीम् ॥ १ ॥

× तृणसंस्तारकनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः । यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तच्चक्रवर्त्यपि ॥ १ ॥

* वध्यकथने हिंसादिकर्मणामवध्यकथने च चौर्यादिकर्मणाम् ।

मार्जारादीन् परसत्त्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यमवलम्बयेत् । तथाऽमी गवादयो वाह्या न वाह्या वा तथाऽमी वृक्षाश्छेद्या अच्छेद्या वा इत्यादिकं वचो न वाच्यं साधुनेति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथायमपरो वाक्संयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धिमाश्रितः प्रदर्श्यते—

दीसंति समियाचारा, भिक्खुणो साहुजीविणो । एए मिच्छोवजीवित्ति, इति दिट्ठिं न धारए ॥ ३१ ॥

व्याख्या—जगत्येके दृश्यन्ते ' समियाचार '[त्ति समिताचाराः]सिद्धान्तोक्ताचारे प्रवर्त्तमाना भिक्षवो दोषरहिताहारगवेषिणस्तथा साधुजीविनः, न कस्यचिदपराधविधायिनः, क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रिया जितक्रोधा ईर्याशोधका युगमात्रान्तरदृष्टयः सत्यसन्धा दृढव्रताः परिपूतोदकपायिनो मौनिनः सदा तायिनो विविक्तैकान्तध्यानाध्यासिनोऽकौत्कुच्यास्तानेवम्भूतानवधार्यापि ' सरागा अपि वीतरागा इव चेष्टन्ते ' इति मत्वा एते मिथ्योपजीविन इत्येवं दृष्टिं न धारयेत्–नैवम्भूतमध्यवसायं कुर्यान्नाप्येवम्भूतां वाचं निसृजेत्–यथैते मिथ्योपचारप्रवृत्ता मायाविन इति, छद्मस्थेन ह्यर्वाग्दर्शिना एवम्भूतस्य निश्चयस्य कर्त्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायः, ते च स्वयूथ्या वा भवेयुस्तीर्थान्तरीया वा, तावुभावपि न वक्तव्यौ साधुनेति ॥ ३१ ॥ किञ्च—

दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि वा नत्थि वा पुणो । न वियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च वूहए ॥ ३२ ॥

व्याख्या—दानं दक्षिणा, तस्याः ' प्रतिलम्भः ' प्राप्तिः, स दानलाभोऽस्माद्गृहस्थादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं न व्यागृणीयात् ' मेधावी ' मर्यादावान् स्वयूथ्यस्य तीर्थान्तरीयस्य वा एकान्तेन दानं–दाननिषेधं वा न कुर्यात्, तथाहि–

तद्दाननिषेधेऽन्तरायसम्भवः, तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भवः, इत्यतोऽस्ति दानं न चेत्येकान्तेन न ब्रूयात् । कथं तर्हि ब्रूयात् ? इति दर्शयति–'शान्ति'र्मोक्ष[स्तस्य]मार्गस्तं 'उपबृंहयेत्' वर्द्धयेत्, यथा मोक्षमार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा वदेदित्यर्थः । एतावता यथा सावद्यं स्यात्तथा न वदेदिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

इच्चेएहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए। धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि त्तिबेमि ॥ ३३ ॥

बीयसुयखंधस्स अणायारनामं पंचमज्झयणं समत्तं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इत्येतैरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्संयमप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः रागद्वेषरहितैर्जिनदृष्टैरुपलब्धैर्न स्वमतिविकल्पोत्थापितैः 'संयतः' संयमवानात्मानं धारयन्, एभिः स्थानैरात्मानं वर्त्तयन् आमोक्षाय[अ]शेषकर्मक्षयार्थं 'परि' समन्तात्संयमानुष्ठाने 'व्रजेः' गच्छेस्त्वमिति विनेयस्योपदेशः । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिवरमन्दब्धायां श्रीसूत्रकृताङ्गदीपिकायां समाप्तमनाचारश्रुताख्यं पञ्चममध्ययनमिति ॥ ५ ॥

अथ षष्ठमार्द्रकीयमध्ययनम् ।

उक्तं पञ्चममध्ययनं, साम्प्रतं षष्ठमारभ्यते इदमार्द्रककुमाराध्ययनम् ।

अत्र आर्द्रककुमारोत्पत्तिः प्राग्भवस्वरूपप्रतिमादर्शनोत्पन्नजातिस्मरणादिकं सर्वं बृहट्टीकातोऽवसेयं, अत्र तु सूत्रार्थ एव प्रतन्यते, तथाहि—

पुरे कडं अद्द ! इमं सुणेह, एगंतचारी समणे पुरासी ।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतिण्हिं पुढो वित्थरेणं ॥ १ ॥

व्याख्या—यथा गोशालकेन समं वादोऽभूदार्द्रककुमारस्य तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते, तं च राजपुत्रमार्द्रककुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवत्समीपमागच्छन्तं गोशालकोऽब्रवीद्, यथा—भो आर्द्रक ! यदहं ब्रवीमि तच्छृणु, 'पुरा' पूर्वं यदनेन भवत्तीर्थकृता कृतं तच्चेदमिति दर्शयति—पुरा एकान्तप्रदेशचारी—श्रमणः पुराऽऽसीत्तपश्चरणोद्युक्तः, साम्प्रतं तूग्रैस्तपश्चरणै-र्भग्नो मां विहाय देवादिमध्यगतोऽसौ धर्मं कथयति । बहून् भिक्षूनुपनीय—प्रभूतशिष्यपरिवारं कृत्वा भवद्विधानां मुग्धजनानामिदानीं धर्ममाचष्टे पृथक् पृथक् विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ १ ॥

साऽऽजीविया पट्ठविताऽथिरेणं, सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥ २ ॥

व्याख्या—येयं बहुजनमध्यगतेन युष्मद्गुरुणा धर्मदेशना प्रारब्धा सा आजीविका प्रस्थापिता, एकाकी विहरन् पामरैः परिभूयत इति मत्वा महान् परिकरः कृतः, तदनेन दम्भप्रधानेन आजीविकार्थमिदमारब्धं अस्थिरेण, पूर्वमयं मया सार्द्धमेकाक्यन्तप्रान्ताशनेन शून्यारामदेवकुलादौ वृत्तिं कल्पितवान्, न च तथाभूतमनुष्ठानं सिकताकवलवन्निरास्वादं यावज्जीवं कर्तुमलं, अतो मां विहाय बहून् शिष्यान् प्रतार्य एवम्भूतेन स्फटाटोपेन विहरतीत्यतो अनवस्थितचित्तः, पूर्वचर्यापरित्यागेनापराचारसमाश्रयणात् । 'सभागतः' पर्षदि व्यवस्थितः 'गणओ'त्ति 'गणशो' बहुशो भिक्षूणां मध्यगतो (बहुजन्यमर्थं–) बहुजनहितमर्थं कथयन् विहरति, एतच्चास्यानुष्ठानं [पूर्वापरं न सन्दधाति–] पूर्वापरविरुद्धं, यदि साम्प्रतीयं वृत्तं प्राकारत्रयसिंहासनाशोकवृक्षभामण्डलछत्रचामरादिकं मोक्षाङ्गमभविष्यत्ततो या प्राक्तना चर्या क्लेशबहुलाऽनेन कृता सा क्लेशाय केवलं, अथ निर्जराहेतुका परमार्थभूता ततः साम्प्रतावस्था परप्रतारकत्वाद्दम्भकल्पा, ततः पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौनव्रतधर्मदेशनयोः परस्परतो विरोध इति गाथार्थः ॥ २ ॥ अपि च—

एगंतमेवं अदुवावि इण्हिं, दोवण्णमन्नं न समेति जम्हा ।
पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च, एगंतमेवं पडिसंधयाति ॥ ३ ॥

व्याख्या—यद्येकान्तचारित्वमेव शोभनं, पूर्वमाश्रितत्वात्ततः सर्वदाऽन्यनिरपेक्षैस्तदेव कर्त्तव्यं, अथ चेदं महापरिवार-वृतं साधुतया मन्यसे ततस्तदेवादावप्याचरणीयमासीत्, अपि च द्वे अप्येते छायाऽऽतपवदत्यन्तविरोधिनी वृत्ते नैकत्र समवायं गच्छतः। तथा यदि मौनेन धर्मस्ततः किमियं महता प्रबन्धेन धर्मदेशना? अथानयैव धर्मस्ततः किमिति पूर्वं मौनव्रतमनेनाऽऽलम्बि? । तदेवं गोशालकेनोक्ते सत्यार्द्रकः श्लोकपश्चार्द्धेनोत्तरदानायाह—'पुव्विं च' इत्यादि, 'पूर्वं' पूर्वस्मिन् काले यन्मौनव्रतिकत्वं या चैकचर्या तच्छद्मस्थत्वाद् घातिकर्मचतुष्टयक्षयार्थं, साम्प्रतं यद्धर्मदेशनादीनां दानं तत्तीर्थकरनाम्नो वेदनार्थं "+तं च कहं वेइज्जइ? अगिलाए धम्मदेसणाईहिं" इति वचनात्, अपरासां चोच्चैर्गोत्रशुभायुर्नामादीनां शुभप्रकृतीनां वेदनार्थमिति, यदिवा पूर्वं साम्प्रतं चानागते काले[च]रागद्वेषरहितत्वादेकत्वभावनाऽनतिक्रमणादेकत्वमेवाशेषजनहितं धर्मं कथयन् सन्दधाति, न तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोराशंसारहितत्वाद्भेदोऽस्ति। यदुच्यते—पूर्वोत्तरयोरवस्थयोर्भेदस्तत्र किञ्चित् ॥ ३ ॥ अथ धर्मदेशनया श्रोतॄणां कश्चिदुपकारोऽपि स्यादत आह—

समिच्च लोयं तसथावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे, एगंतयं सारयई तहच्चे ॥ ४ ॥

व्याख्या—'समेत्य' ज्ञात्वा लोकं त्रसस्थावराणां जन्तूनां 'क्षेमं' शान्तिः—रक्षा, तत्करणशीलः क्षेमङ्करः श्रमणो

+ तच्च कथं वेद्यते? अग्लान्या धर्मदेशनादिभिः ।

माहनो वा, स एवम्भूतो निर्ममो रागद्वेषरहितः प्राणिहितार्थं, न लाभपूजाख्यात्यर्थं, धर्ममाचक्षाणोऽपि प्राग्वच्छद्मस्थावस्थायां मौनव्रतिक इवोत्पन्नदिव्यज्ञानोऽपि देवासुरनरतिर्यक्सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थितः पङ्काधारपङ्कजवत्तद्दोषव्यासङ्ग(संयोग)भावान्ममत्वविरहादाशंसादोषविकलत्वादेकान्तमेव [धारयति-] साधयति । अस्य भगवतः पूर्वावस्थासाम्प्रतकालीनावस्थयोर्नास्त्यन्तरं, रागद्वेषाभावात् । तथा प्रशस्तवर्ण-लेश्या शुक्लध्यानाख्या यस्य, अष्टमहाप्रातिहार्यैः पूज्यमानोऽपि नोच्छ्रे[नोत्से]कं-गर्वं विदधाति, जितरागद्वेषत्वात् । तथा चोक्तं-" रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ? । अथ नो निर्जितावेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ? ॥ १ ॥ " तथा बाह्यमनङ्गमान्तरं कषायजयादिकं प्रधानं कारणमिति गाथार्थः ॥ ४ ॥

अथ भगवाननेकैर्लोकैः परिवृतोऽपि रागद्वेषाभावादेकान्तचार्येवासौ मन्तव्यः, निरीहः सन् धर्मं कथयन्नपि न दोषभागिति दर्शयति—

धम्मं कहंतस्स उ नत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स ।
भासाइ दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाइ निसेवगस्स ॥ ५ ॥

व्याख्या—तस्य भगवतोऽपगतघनघातिकलङ्कस्योत्पन्नसकलपदार्थाविर्भावविज्ञानस्य जगदभ्युद्धरणप्रवृत्तस्यैकान्तपरहितकारिणः स्वकार्यनिरपेक्षस्य क्षान्तस्य दान्तस्य जितेन्द्रियस्य भाषादोषविवर्जकस्य कर्कशासभ्यवचोवर्जकस्य तथा

भाषाया ये गुणा हितमितदेशकालासन्दिग्धभाषणादयस्तद्विवेचकस्य सतो धर्मं कथयतोऽपि नास्ति दोषः, छद्मस्थस्य हि [बाहुल्येन] मौनमेव श्रेयः समुत्पन्नकेवलस्य हि भाषणमपि गुणायेति गाथार्थः ॥ ५ ॥

किम्भूतं धर्ममसौ कथयतीत्याह —

महव्वए पंच अणुव्वए य, तहेव पंचासव संवरे य ।

विरइं इहस्सामणियंमि पन्ने, लवावसक्की समणे त्तिबेमि ॥ ६ ॥

व्याख्या—पञ्चमहाव्रतानि तथा पञ्चैवाणुव्रतानि श्रावकानुद्दिश्य प्रज्ञापितवान्, तथा पञ्चाश्रवसंवरं च तथा सप्तदश-प्रकारं संयमं च प्रतिपादितवान्, संयमवतो हि विरतिर्भवत्यतो विरतिं च प्रतिपादितवान्, च शब्दात्तत्फलभूतौ निर्जरा-मोक्षौ च कथितवान् । कथम्भूतः ? श्रामण्ये प्राप्तः प्राज्ञो वा एतत्प्रतिपादितवान्, कथम्भूतो ? 'लवावसक्की' लवं-कर्म्म, तस्मादवसर्पति, एवंविधः श्रमणस्तपस्वी, स्वयमेव हि भगवान् पञ्चमहाव्रतोपपन्न इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तो विरतो लवाव[ष्वक्की]सर्पी सन्, ततोऽन्येषामपि तथाभूतमुपदेशं दत्तवान् । तत आर्द्रककुमारवचनमाकर्ण्य गोशालकस्तत्प्रतिपक्ष-भूतमर्थं वक्तुकाम इदमाह—इत्येतद्वक्ष्यमाणं यदहं ब्रवीमि तच्छृणु त्वमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥ अथाह गोशालकः—

सीओदगं सेवउ बीयकायं, अहायकम्मं तह इत्थियाओ ।

एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णाभिसमेति पावं ॥ ७ ॥

व्याख्या—भो आर्द्रकुमार! त्वया प्रतिपादितं—परार्थं प्रवृत्तस्याष्टमहाप्रातिहार्यादिपरिग्रहस्तथा शिष्यादिपरिग्रहो धर्म्मदेशना च न दोषाय यथा तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते यदेतदुपन्यस्तं तन्न दोषाय, तथाहि—'शीतोदक'मप्रासुकोदकं, तत्परिभोगे न दोषस्तथा बीजकायपरिभोगमाधाकर्म्माश्रयणं स्त्रीप्रसङ्गं च विदधातु, अस्मदीये धर्म्मे प्रवृत्तस्य 'एकान्तचारिणः' आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनः पापं नाभिसमेति—न लगतीत्यर्थः। इदमुक्तं भवति—शीतोदकस्त्रीप्रसङ्गादिकं च यद्यपीषत्कर्म्मबन्धाय तथापि धर्म्माधारं शरीरं प्रतिपालयत एकान्तचारिणस्तपस्विनो न बन्धाय भवतीति गाथार्थः॥ ७॥

अथ आर्द्रक उवाच—

सीओदगं वा तह बीयकायं, अहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एयाइं जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति॥ ८॥

व्याख्या—भो गोशालक! शीतोदकादीन्येतानि प्रागुपन्यस्तान्यप्रासुकोदकपरिभोगादीनि प्रतिसेवन्तः 'अगारिणो' गृहस्थास्ते भवन्ति, अश्रमणाश्च—अप्रव्रजिताश्चैवं त्वं जानीहि, यतः—"अहिंसासत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता"। इत्येतच्छ्रमणलक्षणं, तच्चैषां शीतोदकबीजाधाकर्म्मस्त्रीपरिभोगकारिणां नास्ति, अतस्ते नामाकाराभ्यां श्रमणाः, न परमार्थत इति गाथार्थः॥ ८॥ पुनरप्यार्द्रक एवैतद्दूषणायाह—

सिया य बीओदगइत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंति ।
अगारिणो वि समणा भवंतु, सेवंति उ तेवि तहप्पगारं ॥ ९ ॥

व्याख्या—अहो गोशालक ! स्यादेतद्भवदीयं मतं, यथा-ते एकान्तचारिणः क्षुत्पिपासादिप्रधानतपश्चरणपीडिताश्च, तत्कथं ते न तपस्विन इति एतदाशङ्क्यार्द्रक आह—यदि बीजाद्युपभोगिनोऽपि श्रमणा इत्येवं भवताऽभ्युपगम्यते एवं तर्ह्यगारिणोऽपि—गृहस्थाः श्रमणा भवन्तु, तेषामपि देशि[पथि]कावस्थायामाशंसारतामपि निष्काञ्चनतया एकाकीविहारित्वं क्षुत्पिपासादिपीडनं च सम्भाव्यते (अत) अगारिणोऽपि श्रमणा भवन्तु, यतस्तेऽपि तथाप्रकारं स्त्रीपरिभोगादिकं सेवन्त्येवेति गाथार्थः ॥ ९ ॥ पुनरप्यार्द्रको बीजोदकादिभोजिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

जेयावि बीओदगभोति भिक्खू, भिक्खं विहिं जायति जीवियट्ठी ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, कायोवगा णंऽतकरा भवंति ॥ १० ॥

व्याख्या—ये चापि भिक्षवः प्रव्रजिता बीजोदकभोजिनः सन्तो द्रव्यतो ब्रह्मचारिणोऽपि आजीविकार्थं भिक्षामटन्ति, ते ज्ञातिसंयोगं 'विप्रहाय' त्यक्त्वा 'कायोपगाः' षट्कायारम्भिणः संसारसागरस्य नान्तकरा भवन्ति ते, गृहस्थकल्पा एव ते, यत्तु भिक्षाटनं तु केषाञ्चिद्गृहस्थानामपि सम्भाव्यते, नैतावता श्रमणभाव इति गाथार्थः ॥ १० ॥

अथैतदाकर्ण्य गोशालकोऽपरमुत्तरं दातुमसमर्थोऽन्यतीर्थिकान् सहायान् विधाय सोल्लुण्ठमसारं वक्तुकाम आह—

इमं वयं तु तुमं पाउकुव्वं, पावाइणो गरिहसि सव्व एव ।
पावाइणो पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठि करिंति पाउ ॥ ११ ॥

व्याख्या—अहो आर्द्रकुमार! 'इमां' पूर्वोक्तां वाचं 'प्रादुष्कुर्वन्' प्रकाशयन् सर्वान् प्रावादुकान् गर्हसि, यस्मात्सर्वेऽपि तीर्थिका बीजोदकादिभोजिनोऽपि संसारोच्छेदनाय प्रवर्तन्ते, ते तु भवता नाभ्युपगम्यन्ते, ते तु प्रावादुकाः पृथक् पृथक् स्वीयां स्वीयां दृष्टिं प्रत्येकं स्वदर्शनं कीर्तयन्तः 'प्रादुष्कुर्वन्ति' प्रकाशयन्ति, यदिवा श्लोकपश्चार्द्धमार्द्रककुमार आह—सर्वेऽपि प्रावादुका यथावस्थितं स्वदर्शनं प्रादुष्कुर्वन्ति, तत्प्रामाण्याच्च वयमपि स्वदर्शनाविर्भावनं कुर्मः, तथाहि—अप्रासुकेन बीजोदकादिपरिभोगेन कर्मबन्ध एव केवलं, न संसारोच्छेदः, इतीदमस्मदीयं दर्शनं, एवं च व्यवस्थिते काऽत्र परनिन्दा? को वाऽऽत्मोत्कर्षः? इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ किञ्च—

ते अन्नमन्नस्स तु गरहमाणा, अक्खंति भो समणा माहणा य ।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठीं ण गरहामो किंचि ॥ १२ ॥

व्याख्या—'ते' प्रावादुकाः 'अन्योऽन्यस्य' परस्परेण तु स्वदर्शनस्थापनेन परदर्शनं गर्हमाणाः स्वदर्शनगुणान् कथयन्ति, ते श्रमणा ब्राह्मणाः स्वपक्षमेव समर्थयन्ति परकीयं च दूषयन्ति । तदेव पश्चार्द्धेन दर्शयति—स्वकीये पक्षे स्थाप्यमानेऽस्ति पुण्यं तत्कार्यं च स्वर्गापवर्गादिकमस्ति, 'असतः' पराभ्युपगमाच्च नास्ति पुण्यादिकमित्येवं सर्वेऽपि तीर्थिकाः

परस्परव्याघातेन प्रवृत्ताः, अतो वयमपि यथावस्थिततत्त्वप्ररूपणतो युक्तिविकलत्वादेकान्तदृष्टिं गर्हामो, नापरं किमपि गर्हामः, सत्ये उक्ते न काऽपि गर्हा ×, एकान्तवादं निराकुर्मः, न परवादिनो, रागद्वेषविरहान्न कमपि गर्हाम इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

एतदेव स्पष्टतरमाह—

न किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सदिट्ठिमग्गं तु करेमो पाउं ।
मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ॥ १३ ॥

व्याख्या—भो गोशालक ! वयं न कञ्चन श्रमणं ब्राह्मणं वा 'रूपेण' जुगुप्सिताङ्गोपाङ्गोद्घट्टनेन जात्यादिमर्मप्रकाशनेन[वा] गर्हामः, केवलं स्वदृष्टिमार्गं प्रादुष्कुर्मः—स्वदर्शनं प्रकाशयामः, अथवाऽन्यदर्शनप्ररूपितं मार्गं दर्शयामः, यथा—"ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुक् व्यालुप्तशिश्नो हरः, सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक् सोमः कलङ्काङ्कितः । स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः, सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ॥ १ ॥" इत्यादि, एतच्च तैरेव स्वागमे पठ्यते, वयं तु श्रोतारः, परं न कस्याप्यपवादं कुर्मः । अयमस्मदीयो मार्गः 'अनुत्तरः' प्रधानः 'आर्यैः' सर्वज्ञैः [कीर्तितः] प्ररूपितः अत एव 'अंजू' इति व्यक्तो, निर्दोषत्वात्प्रकटः

× "नेत्रैर्निरीक्ष्य बिलकण्टककीटसर्पान्, सम्यग्यथा व्रजत तान्परिहृत्य सर्वान् ।
कुज्ञानकुश्रुतिकुमार्गकुदृष्टिदोषान्, सम्यग् वि(चा)रयत कोऽत्र परापवादः ? ॥ १ ॥" इति हर्ष०

[अङ्कुलि]कुलिकाः इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ पुनरपि स्वधर्मप्ररूपणायाह—

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
भूयाहिसंकाइ दुगुंछमाणा, णो गरहती वुसिमं किंचि लोए ॥ १४ ॥

व्याख्या—ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्दिक्षु ये त्रसाः स्थावराश्च ये प्राणिनस्तेषां पालकः 'भूताभिशङ्कया' प्राण्युपमर्दशङ्कया सर्वं सावद्यमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैवापरं लोकं कञ्चन 'गर्हते' निन्दति, कः? 'वुसिमं'ति संयमवानिति, तदेवं रागद्वेषरहितस्य वस्तुस्वरूपाविर्भावने न काऽपि गर्हा भवति, तत्रापि चेद्गर्हा स्यात्तर्हि उष्णोऽग्निः शीतमुदकं विषं मारणात्मकमित्येवमादि न किञ्चिद्वस्तुस्वरूपमाविर्भावनीयमिति गाथार्थः ॥ १४ ॥

स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिको निराकृतोऽपि पुनरन्येन प्रकारेणाह—

आगंतऽगारे आरामऽगारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं ।
दक्खा हु संती बहवे मणूसा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥ १५ ॥

व्याख्या—भो आर्द्रकुमार! भवत्सम्बन्धी योऽसौ तीर्थङ्करः स रागद्वेषभययुक्तः, तथाहि—असौ भवत्तीर्थकरः आगन्तागारं—कार्पटिकादीनां स्थानं धर्मशालाऽऽदिकं, आरामागारं उद्यानादिकं, तत्रासौ न वसति—न तत्र तिष्ठति भयेन। किं तत्र भयकारणं? तत्र आगन्तुकाः बहवो 'दक्षाः' प्रभूतशास्त्रविशारदाः मनुष्यास्तिष्ठन्ति, तद्भीतो न तत्र वासं कुरुते।

यतस्ते स्वतोऽवमाः–हीना जात्या[दि]भिस्तैः पराजितस्य महांश्छायाभ्रंश इति भयेन न धर्मशालाऽऽदिषु वासं विधत्ते। कथम्भूतास्ते पण्डिताः ? लपन्तीति 'लपाः' वाचालाः घोषितानेकतर्कविचित्रदण्डकाः, तथा–न[? अ] लपा–मौनव्रतिका निष्ठितयोगाः गुटिकादियुक्ता वा, यद्वाऽल्परवादिनामभिधेयविषया वागेव न प्रवर्त्तते, ततस्तद्भयेन युष्मत्तीर्थकर आगन्तागारादौ न व्रजतीति गाथार्थः ॥ १५ ॥ पुनरपि गोशालक एवाह—

मेहाविणो सिक्खियबुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य निच्छयन्ना।
पुच्छिसु मा णे+ अणगार अन्ने, इति संकमाणो न उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

व्याख्या—भो आर्द्रकुमार ! भवत्सम्बन्धी तीर्थकृत् एवं जानाति–यद्यहं धर्मशालादिषु स्थास्यामि तदा तत्र बहवो विशारदा मेधाविनो–ग्रहणधारणासमर्थाः, आचार्यादेः समीपे गृहीतशिक्षाः, तथौत्पत्त्यादिचतुर्विधबुद्ध्युपेताः, तथा सूत्रार्थविषये विनिश्चयज्ञाः–यथावस्थितसूत्रार्थवेदिनस्ते चैवम्भूताः सूत्रार्थविषयं मा प्रश्नं कार्षुरित्येवं शङ्कमान–स्तेभ्यो बिभ्यत् धर्मशालादिषु न तिष्ठति । अहं तैः पृष्टः सन्नुत्तरं दातुमसमर्थस्ततो मम छायाभ्रंशो भविष्यती भिया न तेषु मध्ये आयाति, तेभ्यो दूरत एव तिष्ठति, अत एवासौ न ऋजुमार्गः, भययुक्तत्वात्तस्य, तथा म्लेच्छविषयं गत्वा न कदाचिद्धर्मदेशनां चकार, आर्यदेशेऽपि न सर्वत्रापि[? अपितु]कुत्रचित्, अतो विषमदृष्टित्वाद्रागद्वेषवर्त्यसौ इति ॥ १६ ॥

+ 'णे' इति पादपूर्त्तावव्ययम्।

[एतद्] गोशालकमतं परिहर्तुकाम आर्द्रक आह—

णोऽकामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुओ भएणं।
वियागरेज्जा पसिणं नवावि, स कामकिच्चेणिह आरियाणं ॥ १७ ॥

व्याख्या—भो गोशालक! स हि भगवान् प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, एतावता अनिच्छाकारी न भवति। यो ह्यविमृश्यकारितया भवति सोऽनिष्टमपि-स्वपरात्मनो निरर्थकमपि कृत्यं कुर्वीत, भगवाँस्तु सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरतः [कथं] स्वपरयोर्निरुपकारकमेवं कुर्यात्? तथा न चासौ बालकृत्यः-बालवदनालोचितकारी न पराऽनुरोधाद्वाऽपि गौरवाद्धर्मदेशनादिकं विधत्ते, अपितु यदि कस्यचिद्भव्यसत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति तेन प्रवृत्तिर्भवति, नान्यथा, तथा न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्तते, ततः कुतस्तस्य भयेन प्रवृत्तिः? स्यादित्येवं व्यवस्थिते केनचित् कश्चित्संशयकृतं प्रश्नं व्यागृणीयाद् यदि तस्योपकारो भवति, उपकारमन्तरेण न व्यागृणीयाद्, यदिवा अनुत्तरसुराणां मनःपर्यवज्ञानिनां च द्रव्यमनसैव तन्निर्णयसम्भवादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते, यद्भवता कथ्यते-वीतरागोऽसौ किमिति धर्मकथां करोतीति? चेदित्याशङ्क्याह—'स्वकामकृत्येन' स्वेच्छा[चारि]कारितयाऽसावपि तीर्थकृन्नामकर्मणः क्षपणाय, न यथाकथञ्चिद्, अतोऽसावग्लान 'इह' अस्मिन् संसारे आर्यक्षेत्रे चोपकारयोग्ये आर्याणामुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति गाथार्थः ॥ १७ ॥ किञ्चान्यत्—

गंता च तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियासुपन्ने ।

अणारिया दंसणओ परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

व्याख्या—स हि भगवान् परहितैकरतो गत्वाऽपि विनेयासन्नं, अथवाऽप्यगत्वा यथा यथा भव्यसत्त्वोपकारो भवति तथा तथाऽर्हन्तो धर्मदेशनां विदधति । उपकारे सति गत्वाऽपि कथयन्ति, असति तु स्थिता अपि न कथयन्त्यतो न तेषां रागद्वेषसम्भव इति । केवलमाशुप्रज्ञः समतया चक्रवर्तिद्रमकादिषु [पृष्टोऽ]पृष्टो वा धर्मं व्यागृणीयात् । "जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ" इति वचनान्न रागद्वेषवान्, यत्पुनरनार्यदेशमसौ न व्रजति तत्रेदमाह—अनार्याः दर्शनतोऽपि 'परि' समन्ता'दिता' गताः—प्रभ्रष्टा इति यावत्, तदेवमसौ भगवान् [तेषु] सम्यग्दर्शनमात्रमपि न भवतीत्याशङ्कमानस्तत्र न व्रजतीति । यदि वा विपरीतदर्शनाः—साम्प्रतेक्षिणो ह्यनार्यास्ते हि वर्तमानसुखमेवैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते, न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः सद्धर्मपराङ्मुखेषु तेषु भगवान्न याति, न पुनस्तद्द्वेषादिबुद्ध्येति । यदुच्यते त्वया—यथाऽनेक-शास्त्रविशारदगुटिकादिसिद्धविद्यासिद्धादितीर्थिकपराभवभयेन न तत्समाजे गच्छतीत्येतदपि बालप्रलपितप्रायं, यतः—सर्वज्ञस्य भगवतः समस्तैः प्रावादुकैर्मुखमप्यवलोकयितुं न शक्यते, वादस्तु दूरोत्सादित एवेत्यतः कुतस्तत्पराभवः ? भगवांस्तु केवलालोकेन यत्रैव स्वपरोपकारं पश्यति तत्रैव गत्वापि धर्मदेशनां विधत्ते इति गाथार्थः ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह—

पन्नं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं।
तऊवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मती वियक्का ॥ १९ ॥

व्याख्या—भो आर्द्रकुमार! यथा कश्चिद्वणिक् 'उदयार्थी' लाभार्थी 'पण्यं' व्यवहारयोग्यं भाण्डं कर्पूरागुरुकस्तूरिकाऽम्बरादिकं गत्वा देशान्तरं विक्रीणाति, तथा 'आयस्य' लाभस्य 'हेतोः' कारणान्महाजनसङ्गं विधत्ते, तदुपमोऽयमपि भवत्तीर्थकरः 'श्रमणो' ज्ञातपुत्रः इत्येवं मे मतिर्भवति वितर्को-मीमांसा वेति गाथार्थः ॥ १९ ॥

एवमुक्ते गोशालकेन आर्द्रक आह—

णवं ण कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं ता[इ]य इ(?)साह एवं।
प(त्ता)वा [एत्तो]वया बंभवतित्ति वुत्ता, तस्सोदयट्ठी समणे त्तिबेमि ॥ २० ॥

व्याख्या—भो गोशालक! योऽयं वणिग्दृष्टान्तो दर्शितः, स किं सर्वतो देशतो वा सदृक्षः? यदि देशतस्ततो न नः (अस्माकं) क्षतिमावहति, यतो वणिग्यत्रैव लाभं पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चिदिति, एतावता साधर्म्यमस्त्येव। अथ सर्वसाधर्म्येण, तन्न युज्यते, यतो भगवान् विदितवेद्यतया सावद्यानुष्ठानरहितो नवं कर्म न कुर्यात्, तथा विधूनय-त्यपनयति पुरातनं यद्भवोपग्राहिकर्म बद्धं, तथा त्यक्त्वा 'अमतिं' विमतिं 'त्रायी' भगवान् 'तायी वा' मोक्षं प्रति गमनशीलो भवतीति, एतावता च सन्दर्भेण 'ब्रह्मणो' मोक्षस्य व्रतं ब्रह्मव्रतमित्येतदुक्तं, तस्मिंश्चोक्ते तदर्थे न

अनुष्ठाने क्रियमाणे तस्योदयस्यार्थी—लाभार्थी भ्रमण इति ब्रवीम्यहमिति ॥ २० ॥

न चैवम्भूता वणिज इति पुनरार्द्रकुमारो दर्शयितुमाह—

समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमाणा ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पकरेंति संगं ॥ २१ ॥

व्याख्या—ते हि वणिजश्चतुर्दशप्रकारमपि भूतग्रामं समारभन्ते, तदुपमर्दकाः क्रियाः प्रवर्त्तयन्ति क्रयविक्रयार्थं शकटवाहनोष्ट्रमण्डलिका(थाना)दिभिरनुष्ठानैरिति, तथा परिग्रहं द्विपदचतुष्पदादिकं ममीकुर्वन्ति, ते हि वणिजो ज्ञातिभिः सह संयोगं 'अविप्रहाय' अपरित्यज्य 'आयस्य' लाभस्य हेतोरपरेण सार्द्धं 'सङ्गं' सम्बन्धं कुर्वन्ति । भगवांस्तु—षड्जीवरक्षापरोऽपरिग्रहस्त्यक्तस्वजनपक्षः सर्वत्राप्रतिबद्धो धर्माऽऽयमन्वेषयन् गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्ते, अतो भगवतो वणिग्भिः सार्द्धं न सर्वसाधर्म्यमस्तीति गाथार्थः ॥ २१ ॥ पुनरपि वणिजां दोषमुद्भावयन्नाह—

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेहि अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥ २२ ॥

व्याख्या—वणिजो वित्तैषिणस्तथा 'मैथुने' स्त्रीसम्पर्के 'सम्प्रगाढा' अध्युपपन्नास्तथा ते भोजनार्थं—माहारार्थं वणिज इतश्चेतश्च व्रजन्ति वदन्ति वा, तांस्तु वणिजो वयमेवं ब्रूमो—यथैते कामेष्वध्युपपन्नाः—गृद्धाः, अनार्या रसेषु च सातः

पौरुषादिषु 'गृद्धा' मूर्च्छिताः, न त्वेवम्भूता भगवन्तोऽर्हन्तः, कथं तेषां तैः सह साधर्म्यमिति दूरत एव निरस्तैषा कथेति गाथार्थः ॥ २२ ॥ किञ्च—

आरंभगं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥ २३ ॥

व्याख्या—आरम्भं परिग्रहं च 'अव्युत्सृज्य' अपरित्यज्य तस्मिन्नेवारम्भे परिग्रहे च निश्चयेन 'सृता' बद्धा–निसृता वणिजो भवन्ति । तथा आत्मदण्डा असदाचारप्रवृत्तेरिति, भावोऽपि च तेषां वणिजां परिग्रहारम्भवतां स 'उदयो' लाभो यदर्थं ते प्रवृत्ताः यं च त्वं लाभं वदसि, स तेषां 'चतुरन्तः' चतुर्गतिको यः संसारोऽनन्तस्तस्मै–तदर्थं भवतीति, [तथा] दुःखाय च भवति । अतस्त्वमर्हतां वणिजां साम्यं मा कुर्विति गाथार्थः ॥ २३ ॥ एतदेव दर्शयितुमाह—

णेगंतिएऽणच्चंतिय उदए से, वयंति ते दो वि गुणोदयंमि ।
से उदए सातिमणंतपत्ते, तमुदयं साहयइ ताइ णाई ॥ २४ ॥

व्याख्या—अहो गोशालक ! स वणिजां लाभो नैकान्तिकः, लाभार्थं धावतामलाभोऽपि स्यात्, स तु लाभ आत्यन्तिकोऽपि न–अवश्यं सर्वकालभाव्यपि न, कदाचित्स्यात् कदाचिन्नेति व्यापारविदो वदन्ति । तौ च द्वावपि भावौ विगतगुणोदयौ, किमुक्तं भवति ? किं तेनोदयेन–लाभेन ? यो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्च अनर्थाय च प्रत्युत स्यात् । तथा

भगवतः सर्वज्ञस्य यो लाभः स केवलज्ञानप्राप्तिलक्षणो निर्जराख्य एव, स तु साद्यनन्तो लाभ इति, एवंविधलाभसहितो भगवान् अन्येषामपि तादृग्विधमेव लाभं ददाति। कथम्भूतो भगवान्? त्रायी, आसन्नसिद्धिगमनानां त्राणकरणात् तथा 'ज्ञाती' ज्ञातक्षत्रियवंशोद्भवः अथवा 'ज्ञाती' विदितसमस्तवेद्य इत्यर्थः। तदेवम्भूतेन भगवता तेषां वणिजां निर्विवेकिनां कथं सर्वसाधर्म्यं? कथं वा तैः सह भगवतः उपमानं दीयते? इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

साम्प्रतं देवकृतसमवसरणपद्मावलीदेवच्छन्दकसिंहासनादिकोपभोगं कुर्वन्नप्याधाकर्मकृतवसतिनिषेवकसाधुवत्कथं तदनुमतिकृतेन कर्मणाऽसौ न लिप्यत इत्येतद्गोशालकमतमाशङ्क्याह आर्द्रकुमारः—

अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठितं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता, अबोहिए ते पडिरूवमेयं ॥ २५ ॥

व्याख्या—भो गोशालक! असौ भगवान् समवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्यहिंसन्नुपभोगं करोति, एतदुक्तं भवति—न हि तत्र भगवतो मनागप्याशंसा प्रतिबन्धो वा विद्यते, समतृणमणिलोष्टुकाञ्चनतया तदुपभोगप्रवृत्तेर्देवाः प्रवचनप्रभावनाहेतोः सम्यक्त्वनिर्मलीकरणार्थमर्हद्भक्तिभाविताः सन्तः प्रवर्तन्ते, अतोऽसौ भगवानहिंसकः, तथा सर्वप्रजाऽनुकम्पकः। एवम्भूतं भगवन्तं धर्मे व्यवस्थितं कर्मविवेकहेतुभूतं भवद्विधा आत्मदण्डैः समाचरन्त आत्मकल्पं कुर्वन्ति वणिगादिभिरुदाहरणै-रेतदबोधे-रविज्ञानस्य प्रतिरूपं वर्तते। एकं तावदिदमज्ञानं—यत्स्वतः कुमार्गप्रवर्तनं द्वितीयं च यद्भगवतामपि जग-

द्रव्याणां सर्वातिशयनिधानभूतानामितरैः समत्वापादनमिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

साम्प्रतमार्द्रकुमारमपहस्तितगोशालकं ततो भगवदभिमुखं गच्छन्तं दृष्ट्वाऽपान्तराले शाक्यपुत्रीया भिक्षव इदमूचुर्यदेतद्वणिग्दृष्टान्तं गोशालोक्तं त्वया दूषितं तच्छोभनं कृतं भवता, यतो बाह्यमनुष्ठानं शून्यप्रायं अन्तरङ्गमनुष्ठानमेव प्रधानं मोक्षाङ्गं ज्ञातव्यम् । अस्मत्सिद्धान्तेऽप्येवमेव व्यावर्ण्यते, भो आर्द्रककुमार ! त्वं सावधानतया मदुक्तमवधारयेति भणित्वा ते भिक्षवः आन्तरानुष्ठानसमर्थकमात्मीयसिद्धान्ताविर्भावनायेदमाहुः ।

पिन्नागपिंडीमवि विद्धु सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमेत्ति ।
अलाउयं वावि कुमारएत्ति, स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

व्याख्या—'पिण्याकः' खलस्तस्य 'पिण्डि'र्भिण्डकं खलशकलमचेतनमपि क्वापि स्थाने पतितं दृष्ट्वा तदुपरि केनचिच्छ्व-मयता प्रावरणं (वस्त्रं) खलोपरि प्रक्षिप्तं, तच्च म्लेच्छेन केनाप्यन्वेष्टुं प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा खलपिण्ड्या सह गृहीतं, ततोऽसौ म्लेच्छो स्वचेष्टितां तां खलपिण्डिं पुरुषबुद्ध्या शूले प्रोतां पावके पचेत्, तथा 'अलाबुकं' तुम्बकं कुमारकोऽयमिति मत्वा अग्नावेव पचाच्, स चैवं चित्तस्य दुष्टत्वात्प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यते, अस्मत्सिद्धान्ते चित्तमूलत्वाच्छुभाशुभ-बन्धस्य, अशुभपरिणामेन बन्धः, अशुभचित्तप्रामाण्यादकुर्वन्नपि प्राणातिपातं प्राणिघातफलेन युज्यत इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अमुमेव दृष्टान्तं वैपरीत्येनाह—

अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीइ नरं पएज्जा ।
कुमारगं वावि अलाउयंति, न लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं ॥ २७ ॥

व्याख्या—अथवाऽपि सत्पुरुषं खलबुद्ध्या कश्चिन्म्लेच्छः शूले प्रोतमग्नौ पचेत्, तथा कुमारकमलाबुबुद्ध्याऽग्नावेव पचेत्, न चासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥ किञ्चान्यत्—

पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा, सूलंमि केइ पयए जायतेए ।
पिन्नायपिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥ २८ ॥

व्याख्या—पुरुषं वा कुमारकं वा शूले विद्ध्वा कश्चित्पचेत् वह्नौ खलपिण्डीयमिति मत्वा 'सतीं' शोभनां, तदेतद् बुद्धानामपि पारणाय कल्पते-योग्यं भवति, किमुतापरेषाम् ? एवं मनसा असङ्कल्पितं कर्म न लगतीति गाथार्थः ॥ २८ ॥

पुनः शाक्य एव दानफलमधिकृत्याह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए निति[णिय]ए भिक्खुयाणं ।
ते पुन्नखंधे सुमहज्जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥ २९ ॥

व्याख्या—स्नातका बौद्धमते प्रधाना दर्शनिनस्तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वयं 'निजे' शाक्यपुत्रीये धर्मे व्यवस्थितः

कश्चिदुपासकः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेत् समांसगुडदाडिमेन इष्टेन भोजनेन, ते महासत्त्वाः पुरुषाः श्रद्धालवः पुण्यस्कन्धं [सु]महान्तं समावर्ज्य-अर्जयित्वा तेन च पुण्यस्कन्धेनाऽऽरोप्याख्या देवा भवन्ति, सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

तदेवं बुद्धेन दानमूलः शीलमूलश्च धर्मः प्रवेदितः, तदेवा—गच्छ बौद्धसिद्धान्तं प्रपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः सन्नार्द्रकोऽनाकुलया दृष्ट्या तान् वीक्ष्योवाचेदं वक्ष्यमाणमित्याह—

अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं ।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहू, वयंति जेआवि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥

व्याख्या—अहो शाक्यपुत्रीयाः! 'इह' अस्मिन् भवदीये शाक्यमते 'संयतानां' भिक्षूणां यदुक्तं भोजनं तदयो-[ग्यरूप-मयो]ग्यं, तथाहि—अहिंसार्थमुत्थितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रव्रजितस्य सम्यग्ज्ञानपूर्विकां क्रियां कुर्वतो भावशुद्धिः फलवती भवति, तद्विपर्यस्तमतेस्त्वज्ञानावृतस्य महामोहाकुलीकृतान्तरात्मतया खलपुरुषयोरपि विवेकमजानतः कुतस्त्या भाव शुद्धिः? अतोऽत्यन्तमयुक्तमेतद्बुद्धमतानुसारिणां यत्खलबुद्ध्या पुरुषस्य शूलप्रोतनपचनादिकं, तथा बुद्धस्य चाऽन्न[पिण्याक]बुद्ध्या पिशित(मांस)भक्षणानुमत्यादिकमित्येतदाह 'प्राणाना'मिन्द्रियादीनामपगमनेन तु पापमेव कृत्वा रससातगौरवादिगृद्धास्तदभावं व्यावर्णयन्ति, एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णनमबोध्यै—अबोधिलाभार्थं तयो-

द्वयोरपि सम्प्रदाये अशोभनमेतद्, कथं द्वयोरित्याह—ये वदन्ति पिण्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकाभावं ये च तेभ्यः शृण्वन्ति तयोर्द्वयोरपि वर्गयोरसाध्वेतदिति । अपिच—नाज्ञानावृतमूढजने भावशुद्ध्या शुद्धिर्भवति, यदि स्यात्संसारमोचकादीनामपि तर्हि कर्मविमोक्षः स्यात्, तथा भावशुद्धिमेव केवलामभ्युपगच्छतां भवतां शिरस्तुण्डमुण्डनपिण्डपातादिकं चैत्यकर्मादिकं चानुष्ठानमनर्थकमापद्यते, तस्मान्नैवंविधया भावशुद्ध्या शुद्धिरुपजायत इति स्थितमिति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथार्द्रकः स्वपक्षाविर्भावनायाह—

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, विन्नाय लिंगं तसथावराणं ।

भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा वि कओ विहऽत्थि ॥ ३१ ॥

व्याख्या—ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वासु दिक्षु त्रसानां स्थावराणां च लिङ्गं—चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवच्छेदम्लानादिकं विज्ञाय भूताभिशङ्कया—जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवं बुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगुप्समानस्तदुपमर्दं परिहरन् ' वदेत् ' धर्मं कथयेत्कुर्यादप्यतः कुतोऽस्तीहास्मिन्नेवम्भूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मत्पक्षे युष्मदापादितो दोष इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अथ खले पुरुषबुद्ध्या असम्भवमेव दर्शयितुमाह—

पुरिसेत्ति पिन्नंति [विन्नत्ति] न एय अत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु ।

को संभवो ? पिन्नगपिंडियाए, वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥ ३२ ॥

व्याख्या—तस्यां पिण्याकपिण्ड्यां पुरुषोऽयमित्येवं महामूर्खस्यापि [विज्ञप्तिरेव नास्ति] मतिरीदृशी न जायते, तथा खलेऽपि यः पुरुषमतिं मन्यते स अनार्य एवासौ यः पुरुषमेव खलोऽयमिति मत्वा हतेऽपि नास्ति दोषः इत्येवं वदेत्, तथाहि—कः सम्भवः ? पिण्याकपिण्ड्यां पुरुषबुद्धेरित्यतो वागपीयमसत्या, ईदृग्भाषया भाषकोऽपि निर्विवेक अशुभं कर्म्म बध्नाति अनन्तं च संसारं रुलतीति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ किञ्च—

वायाभिओएण जमावहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा ।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, णो दिक्खिए बूय सुरालमेयं ॥ ३३ ॥

व्याख्या—वाचाऽभियोगो-वागभियोगस्तेनापि यस्मात्पापमावहेत्, अतो विवेकी-भाषागुणदोषज्ञो न तादृशीं 'वाचं' भाषामुदाहरेत्-न वदेत् । यत एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानां, अतो यः प्रव्रजितः [उदारं-सुष्ठु परिस्थूरं] ईदृशमसारं वचनं न ब्रूयात् । तद्यथा-पिण्याकोऽपि पुरुषः पुरुषोऽपि पिण्याकः तथाऽलाबुकमेव बालको बालक एव अलाबुकमिति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्द्रक एव तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं सोल्लुण्ठं विभणिषुराह—

लद्धे (द्धु) अट्ठे अहो !! एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए य ।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठं, ओलोइए पाणितलट्ठिए वा ॥ ३४ ॥

व्याख्या—अहो भिक्षवः ! एवंविधाभ्युपगमे युष्माभिरेव लब्धः 'अर्थो' विज्ञानं यथावस्थितं तत्त्वमिति तथाऽवगतः सुचिन्तितो भवद्भिर्जीवानामनुभागः-कर्मविपाकस्तत्पीडा इति, तथा एवम्भूतेन विज्ञानेन भवतां यशः पूर्वं समुद्रमपरं समुद्रं च स्पृष्टं-गतमित्यर्थः, तथा भवद्भिरेवं[विध]विज्ञानावलोकेनावलोकितः पाणितलस्थित इवायं लोक इति अहो ! भवतां विज्ञानातिशयो !! यदुत-पिण्याकपुरुषयोरलाबुकबालकयोर्वा घाते[पापस्य]कर्मणो भावाभावं प्राक् कल्पितवन्तो भवन्त इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

अथार्द्रकः परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षस्थापनायाह—

जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अन्नविहीइ सोहिं ।
न वियागरे छन्नपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

व्याख्या—जिनशासनप्रतिपन्नाः [सर्वज्ञोक्तमार्गानुसारिणो] जीवानामनुभाग-मवस्थाविशेषं तदुपमर्देन पीडां वा सुष्ठु 'विचिन्तयन्तः' पर्यालोचयन्तः अन्नविधौ शुद्धिं 'आहृतवन्तः' स्वीकृतवन्तो द्विचत्वारिंशद्दोषरहितेन शुद्धेनाहारेणाहारं कृतवन्तो, नतु यथा भवतां पिशिताद्यपि पात्रपतितं न दोषायेति, एवंविधं वचोऽपि जैना महर्षयो न भाषन्ते । भवन्तः कीदृशाः ? छन्नपदोपजीविनः, हिंसास्थानोपजीविन इत्यर्थः, न तादृशा जैना मुनयः, तेषां हि मुनीनां निर्दोषाहारग्रहणेन षट्कायप्रतिपालनेन तीर्थङ्करानुयायी धर्म्मो ज्ञेय इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ पुनरार्द्रकुमारः कथयति—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए निइ[निय]ए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ऊ, नियच्छती गरिहमिहेव लोए ॥ ३६ ॥

व्याख्या—'स्नातकानां' बौद्धभिक्षूणां नित्यं यः सहस्रद्वयं भोजयेदित्युक्तं प्राक् तस्य यो लाभं वक्ति सोऽसंयतो 'लोहितपाणिः' रुधिरार्द्रपाणिरनार्य इव 'निन्दां' जुगुप्सापदवीं इहलोक एव निश्चयेन गच्छति परलोके चानार्यगम्यां गतिं गच्छति, एवं तावत्सावद्यानुष्ठानानुमन्तॄणामपात्रभूतानां यद्दानं तत्कर्मबन्धाय केवलं, न लाभायेति गाथार्थः ॥३६॥ किञ्च—

थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पइत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥

व्याख्या—'स्थूलं' महाकाय-मुपचितमाँसशोणितं 'उरभ्रं' ऊरणकं 'इह' शाक्यशासने भिक्षुकपक्षोद्देशेन व्यापाद्य—घातयित्वा तथोद्दिष्टभक्तं च प्रकल्पयित्वा[विकर्त्य वा तं] उरभ्रं तन्माँसं वा लवणतैलाभ्यामुपस्कृत्य-पाचयित्वा सपिप्पलीकं समरिचं अपरसँस्कारकद्रव्यसमन्वितं प्रकर्षेण भक्षणयोग्यं माँसं कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

सँस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह—

तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, नो उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

व्याख्या—'तत्' पिशितं शुक्रशोणितसम्भूतमनार्या इव भुञ्जाना अपि प्रभूतं तद्रजसा—पापेन कर्म्मणा न वयमुपलिप्यामहे इत्येवं धार्ष्ट्योपेताः प्रोचुरनार्या 'बाला' विवेकरहिताः 'रसेषु' मांसादिषु 'गृद्धाः' मूर्च्छिता, इत्येतच्च तेषां महते अनर्थायेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥ एतदेव दर्शयति—

जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करिंती, वाया वि एसा बुइया उ मिच्छा ॥ ३९ ॥

व्याख्या—ये चापि रसगारवगृद्धाः शाक्योपदेशवर्त्तिनस्तथाप्रकारं स्थूलोरभ्रसम्भूतं घृतलवणमरिचादिसंस्कृतं पिशितं भुञ्जन्ते पापमजानानाः निर्विवेकिनः सेवन्ते* तदेवं महादोषं मांसभक्षणमिति मत्वा यद्विधेयं तद्दर्शयति—तदेवम्भूतं मांसाद-

---

* "यदुक्तं—हिंसामूलममेध्यमास्पदमलं ध्यानस्य रौद्रस्य य—द्वीभत्सं रुधिराविलं कृमिगृहं दुर्गन्धिपूयाविलम् । शुक्रासृक्प्रभवं नितान्तमलिनं सद्भिः सदा निन्दितं, को भुङ्क्ते ? नरकाय राक्षससमो मांसं तदात्मद्रुहः ॥ १ ॥ तथा—मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २ ॥ (तथा)—योऽत्ति यस्य च मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् । एकस्य क्षणिका तृप्ति—रन्यः प्राणैर्वियुज्यते ॥ ३ ॥" इति हर्ष०

नाभिलाषरूपं मनो-ऽन्तःकरणं ‘ कुशला ’ निपुणा न कुर्वन्ति, महापापहेतुत्वा[त्तदभिलाष]मनो निवर्त्तयन्ती त्यर्थः× । आस्तां भक्षणं वागप्येषा “ न मांस भक्षणे दो+ष० ” इत्यादिका वागप्युक्ता महते पातकायेति मत्वा वचोऽपि न वाच्यमिति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ न केवलं मांसादनमेव त्याज्यमन्यदपि मुमुक्षूणां परिहर्त्तव्यमिति दर्शयितुमाह—

सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।

तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥

व्याख्या—सर्वेषां जीवानां सुखाभिलाषिणां दुःखद्विषां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्व ग्रहणं, ‘ दयाऽर्थं ’ दया- निमित्तं सावद्यारम्भं महासदोषं मत्वा तं परिवर्जयन्तः [तच्छङ्किनो-दोषशङ्किनः] साधवो ज्ञातपुत्रीया महर्षयः ‘ उद्दिष्टं ’ साधुदानाय कल्पितं यद्भक्तपानादिकं, तत् परिवर्जयन्तीति गाथार्थः ॥ ४० ॥ किञ्च—

भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाण निहाय दंडं ।

तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं, एसोऽणु धम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

× “ निवृत्तिस्तु महागुणाय, यदुक्तं-श्रुत्वा दुःखपरम्परामतिघृणां मांसाशिनां दुर्गतिं, ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं मांसादनस्यादरात् । सद्दीर्घायुरदूषितं गदरुजा सम्भाव्य यास्यन्ति ते, मर्त्येषूद्भटभोगधर्ममतिषु स्वर्गापवर्गेषु च ॥ १ ॥” इति हर्ष० । + “ °षो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥ १ ॥ ”

व्याख्या—'भूताभिशङ्कया' भूतोपमर्दशङ्कया सावद्यमनुष्ठानं 'जुगुप्समानाः' परिहरन्तस्तथा सर्वेषां प्राणिनां 'दण्डः' सम्रुपतापस्तं 'नि[धाय]हाय' त्यक्त्वा सम्यगुत्थानेनोत्थाय सत्साधवो यतयस्ततो न भुञ्जन्ते तथाप्रकारमशुद्धजातीयमाहारमिति, एषोऽनुधर्मः इह प्रवचने संयतानां—यतीनां तीर्थकराचरणादनु—पश्चादाचर्यते[इत्यनुना विशेष्यते], यथा तीर्थकरैर्निर्दोषाहारग्रहणं कृतं तथा तदनुसारिभिः साधुभिरपि तथैव विधेयं, यद्वाऽणुरिति स्तोकेनाप्यतिचारेण बाध्यते शिरीषपुष्पमिव सुकुमारोऽयं धर्म्म इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥ किञ्चान्यत्—

निग्गंथधम्मंमि इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा ।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए, अच्चत्थ[ओ]तं पाउणती सिलोगं ॥ ४२ ॥

व्याख्या—निर्ग्रन्थधर्म्मे-श्रुतचारित्ररूपे क्षान्त्यादिके वा सर्वज्ञोक्ते व्यवस्थितः 'इमं' पूर्वोक्तं समाधिमनुप्राप्तोऽस्मिश्चाशुद्धाहारपरिहाररूपे समाधौ सुस्थि[त्वा]तः 'अनिहो' मायारहितोऽस्नेहो वा साधुः संयमानुष्ठानं चरेत्, तथा बुद्धोऽवगततत्त्वो 'मुनिः' कालत्रयवेदी, तथा शीलेन क्रोधाद्युपशमरूपेण गुणैश्च-मूलोत्तरगुणभूतैरुपेतो-युक्तः इत्येवं गुणकलितोऽत्यर्थं संतोषात्मिकां 'श्लाघां' प्रशंसां लोके लोकोत्तरे चावाप्नोति, तथा चोक्तम्—"राजानं तृणतुल्यमेव मनुते शक्रेऽपि नैवादरः, वित्तोपार्जनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः । संसारान्तरवर्त्यपीह लभते शं मुक्तवन्निर्भयः, सन्तोषात्पुरुषोऽमृतत्वमचिरात्यायात्सुरेन्द्रार्चितः ॥ १ ॥" इत्यादि ॥ ४२ ॥

तदेवमार्द्रककुमारं निराकृतगोशालकाजीवकबौद्धमतमभिसमीक्ष्य साम्प्रतं द्विजातयः प्रोचुस्तद्यथा—भो आर्द्रककुमार ! शोभनमकारि भवता यदेते वेदबाह्ये द्वे अपि मते निरस्ते, तत्साम्प्रतमेतदप्यार्हतं वेदबाह्यमेवातस्तदपि नाश्रयणार्हं भवद्विधानां, तथाहि—भवान् क्षत्रियः, क्षत्रियाणां च सर्ववर्णोत्तमा ब्राह्मणा एवोपास्याः, न शूद्राः, अतो यागादिविधिना ब्राह्मणसेवैव युक्तिमतीत्येतत्प्रतिपादयन्नाह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णि[यए]तिए माहणाणं ।

ते पुन्नखंधं सुमहऽज्जणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

व्याख्या—षट्कर्माभिरताः वेदाध्यापकाः शौचाचारपरतया नित्यस्नायिनो ब्रह्मचारिणो द्विजाः स्नातका उच्यन्ते, तेषां नित्यं सहस्रद्वयं ये भोजयेयुः कामिकाहारेण, ते समुपार्जितपुण्यस्कन्धाः सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो भवन्तीत्येवम्भूतो वेदवाद इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ अथार्द्रक एतद्दूषयितुमाह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णि[यए]तिए कुलालयाणं ।

से गच्छति लोलुयसंपगाढे, तिव्वाहितावी णरगाभिसेवी ॥ ४४ ॥

व्याख्या—स्नातकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति, किम्भूतानां ? ' कुलालयाः ' मार्जारास्तत्सदृशाः द्विजाः-ज्ञातव्याः, यतः-सावद्याहारवाञ्छया सर्वदा सर्वगृहेषु मार्जारा इव भ्रमन्ति, एवंविधानां निन्द्यजीविकाजीवनानां सहस्र-

द्वयं यो भोजयेत्सोऽसत्पात्रनिक्षिप्तदानस्तैः स्नातकैर्ब्राह्मणैः सह नरके बहुवेदने [गच्छति] एतावता त्रयस्त्रिंशत्सागरायु-र्नारको जायते इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ अपि च—

दयावरं धम्म दुगुंछमाणे, वहावहं धम्म पसंसमाणे ।

एगंपि जे भोजयति असीलं, णिवो णिसं जाति कओऽसुरेहिं ? ॥ ४५ ॥

व्याख्या—[दयया वरं]दयावरं धर्मं 'जुगुप्समानो' निन्दन् तथा 'वधात्मकं' प्राण्युपमर्दात्मकं धर्मं प्रशंसन् एकमपि 'अशीलं' विरतिरहितं षट्कायोपमर्देन यो भोजयेत्, एकमपि, किम्पुनः प्रभूतान्? 'नृपो' राजाऽन्यो वा यः कश्चिन्मूढमति-र्धार्मिकमात्मानं मन्यमानः, स वराको निशेव निशान्धकारत्वान्निशा—नरकभूमिस्तां याति, कुतस्तस्यासुरेष्वप्यधमदेवेषु प्राप्तिरिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

तदेवमार्द्रकुमारं निराकृतब्राह्मणवादं भगवदन्तिकं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकदण्डिनोऽन्तराल एवोचुस्तद्यथा—भो आर्द्रककुमार! शोभनं कृतं भवता, यदेते सर्वारम्भप्रवृत्ता गृहस्थाः शब्दादिविषयपरायणा मांसाशिनो राक्षसकल्पा द्विजातयो निराकृताः, साम्प्रतमस्मत्सिद्धान्तं शृणु, श्रुत्वा चावधारय, अस्मत्सिद्धान्तभवत्सिद्धान्तयोर्न कोऽपि भेदोऽस्ति, इत्येतद्दर्शयितुमाह—

दुहओ वि धम्मंमि समुट्ठियामो, अस्सिं सुठिच्चा तह एसकालं ।

आयारसीले बुइएऽह णाणे, ण संपरायंमि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

व्याख्या—योऽयमस्मद्धर्मो भवदीयश्चार्हतः स उभयरूपोऽपि कथञ्चित्सदृशः, यतः युष्माकं मते जीवादितत्त्वे पुण्य-
पापबन्धमोक्षाणामपि सद्भावः, अस्माकमपीत्थमेवाऽस्ति । अस्माकमपि पञ्च यमाः अहिंसाद्याः, भवतां च त एव पञ्च महा-
व्रतरूपाः, तथेन्द्रियनोइन्द्रियनिग्रहोऽप्यावयोस्तुल्य एव, तदेवमुभयस्मिन्नपि धर्मे बहुसमाने सम्यगुत्थानोत्थिता यूयं
वयं च तस्माद्धर्मे सुष्ठु स्थिताः, पूर्वस्मिन्काले वर्त्तमाने एष्ये च यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वोढारो, न पुनरन्ये, यथाव्रतेश्वरयाग-
विधानेन प्रव्रज्यां मुक्तवन्तो मुञ्चन्ति मोक्ष्यन्ति चेति, तथाऽऽचारप्रधानं शीलमुक्तं यमनियमलक्षणं, न फल्गुकल्क-
कुहकाजीवनरूपं, अथानन्तरं ज्ञानं च मोक्षाङ्गतयाऽभिहितं, तच्च श्रुतज्ञानं केवलाख्यं च, यथास्वमावयोर्दर्शने प्रसिद्धं, तथा-
प्राणिनो यत्र स्वकर्मभिर्भ्राम्यन्ते स 'सम्परायः' संसारस्तस्मिन्नावयोर्न विशेषोऽस्तीति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

पुनरप्येकदण्डिनः प्रोचुः—

अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो सो, चंदो व ताराहिं समत्तरूवे ॥ ४७ ॥

व्याख्या—'पुरुषं' जीवं यथा भवन्तोऽभ्युपगतवन्तस्तथा वयमपि, कथम्भूतं जीवं ? अमूर्त्तत्वादव्यक्तरूपं करचरण-
शिरोग्रीवाद्यवयवतया न लक्ष्यते, तथा 'महान्तं' लोकव्यापिनं तथा 'सनातनं' शाश्वतं–द्रव्यार्थतया नित्यं, नाना-
विधगतिसम्भवेऽपि चैतन्यलक्षणात्मस्वरूपस्याप्रच्युतेस्तथा'ऽक्षतं' केनचित्प्रदेशानां खण्डशः कर्त्तुमशक्यत्वात्तथा'ऽव्ययं'

अनन्तेनापि कालेनैकस्यापि प्रदेशस्य व्ययाभावात्, तथा सर्वेष्वपि भूतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं 'सर्वतः' सामस्त्याभिरंशत्वादसावात्मा सम्भवति, किमि[? क इ]व? 'चन्द्र इव' शशीव, ताराभिरश्विन्यादिभिर्नक्षत्रैर्यथा 'समस्तरूपः' सम्पूर्णः सम्बन्धमुपयात्येवमसावप्यात्मा प्रत्येकं शरीरैः सह सम्पूर्णः सम्बन्धमुपयाति। तदेवमेकदण्डिभिर्दर्शनसाम्यापादनेन सामवादपूर्वकं स्वदर्शनारोपणार्थमार्द्रककुमारोऽभिहितो, यथैतानि सम्पूर्णानि निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंमारयोर्विद्यन्ते स एव पक्षः सश्रुतिकेन समाश्रयितव्यो भवति, एतानि चास्मदीय एव दर्शने यथोक्तानि सन्ति, नाऽऽर्हते, अतो भवताप्यस्मदीयमेव दर्शनमभ्युपगन्तव्यमिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अथार्द्रककुमारस्तदुत्तरदानायाह—

एवं ण मिज्जंति न संसरंति, न माहणा खत्तिय वेस पेसा ।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ॥ ४८ ॥

व्याख्या—यदिवा प्राक्तनः श्लोकः 'अव्वत्तरूव'मित्यादिको वेदान्तवाद्यात्माऽद्वैतमतेन व्याख्यातव्यस्तथाहि—ते एकमेवाव्यक्तं पुरुषमात्मानं महान्तमाकाशमिव सर्वव्यापिनं सनातन[मनन्त]मक्षयमव्ययं सर्वेष्वपि भूतेषु 'सर्वतः' सर्वात्मतयाऽसौ स्थित इत्येवमभ्युपगतवन्तो, यथा सर्वास्वपि तारास्वेक एव चन्द्रः सम्बन्धमुपयात्येवमसावपीति, अस्य चोत्तरदानायाह—'एव'मित्यादि—यथा भवतां दर्शने एकान्तेनैव नित्योऽविकारी चात्माऽभ्युपगम्यते इत्येवं पदार्थाः

सर्वेऽपि नित्यास्तथा च सति कुतो बन्धमोक्षसद्भावः ? बन्धाभावाच्च न नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणश्चतुर्गतिकः संसारो, मोक्षाभावाच्च निरर्थकं व्रतग्रहणं भवतां पञ्चरात्रोपदिष्टयमनियमप्रतिपत्तिश्च, एवं च यदुच्यते भवता—यथा 'अनयोस्तुल्यो धर्म' इति तदयुक्तमुक्तं, यतो न कथञ्चिदनयोः साम्यं, किञ्च—सर्वव्यापित्वे सत्यात्मनो निष्क्रियत्वे चात्माद्वैते चाभ्यु-पगम्यमाने नरकतिर्यङ्नरामरभेदेन बालकुमारसुभगदुर्भगाढ्यदरिद्रादिभेदेन वा न भिद्येरन्—न परिच्छिद्येरन्, नापि स्व-कर्मप्रेरिता नानागतिषु संसरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाद्वा, तथा न ब्राह्मणा न क्षत्रिया न वैश्या न प्रेष्या न शूद्रा नापि कीटपक्षिसरीसृपाश्च भवेयुः, तथा नरकाः सर्वेऽपि देवलोकाश्चैवं नानागतिभेदेन न भिद्येरन्, अतो न सर्वव्याप्यात्मा तथा नाप्यात्माऽद्वैतवादो ज्यायान्, यतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते, तथा शरीरत्वक्पर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्गुणविज्ञानोपलब्धेरिति स्थितं, तदेवं व्यवस्थिते युष्मदागमो यथार्थाभिधायी न भवति, असर्वज्ञप्रणीतत्वाद्, असर्वज्ञ-प्रणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाश्रयणादिति ॥ ४८ ॥ एवमसर्वज्ञस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावयन्नाह—

लोयं अजाणित्तिह केवलेणं, कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासंति अप्पाण परं च नट्ठा, संसारघोरम्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥

व्याख्या—लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं चराचरं वा लोकमज्ञात्वा 'केवलेन' दिव्यज्ञानावभासेन 'इह' अस्मिन् जगति ये तीर्थिका 'अजानाना' अविद्वांसो धर्मं दुर्गतिगमनमार्गार्गलाभूतं 'कथयन्ति' प्रतिपादयन्ति ते स्वतो नष्टा

अपरानपि नाशयन्ति, क्व ? 'घोरे' भयानके संसारसागरे 'अणोरपारे' अर्वाग्भागपरभागविवर्जिते अनाद्यनन्ते, इत्येवम्भूते संसारार्णवे आत्मानं प्रक्षिपन्तीति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

साम्प्रतं सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टॄणां गुणानाविर्भावयन्नाह—

लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ, तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥ ५० ॥

व्याख्या—लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं केवलालोकेन केवलिनो विविध—मनेकप्रकारं जानन्ति, इह जगति प्रकर्षेण जानाति प्रज्ञः पुण्यहेतुत्वाद्वा पुण्यं, तेन तथाभूतेन ज्ञानेन समाधिना च युक्ताः समस्तं धर्मं श्रुतचारित्ररूपं ये तु परहितैषिणः 'कथयन्ति' प्रतिपादयन्ति ते महापुरुषाः स्वतः संसारसागरं तीर्णाः परं च तारयन्ति सदुपदेशदानत इति, यथा देशकः—सम्यग्मार्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकान्ताराद्विवक्षितदेशप्रापणेन निस्तारयति, एवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च संसारकान्तारान्निस्तारयन्तीति गाथार्थः ॥ ५० ॥ पुनरप्यार्द्रकुमार एवमाह—

जे गरहियं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मतीए, अहाउसो विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥

व्याख्या—असर्वज्ञप्ररूपणमेवम्भूतं भवति, तद्यथा—ये केचित्संसारान्तर्वर्तिनोऽशुभकर्मोपेताः—समन्विताः 'गर्हितं'

निन्दितं जुगुप्सितं निर्विवेकिजनाचरितं स्थानं कर्मानुष्ठानरूपं 'इह' जगति आ[वसन्ति]सेवन्ति आजीविकाहेतुमाश्रयन्ति, ये च सदुपदेशवर्त्तिनोऽस्मिँल्लोके 'चरणेन' विरतिपरिणामरूपेणोपेताः-समन्वितास्तेषामुभयेषामपि यदनुष्ठानं [शोभना] शोभनरूपमपि तदसर्वज्ञैः 'समं' तुल्यं 'उदाहृतं' उपन्यस्तं 'स्वमत्या' स्वाभिप्रायेण भो एकदण्डिन्! तं विपरीतमतिं [एव] जानीहि, सम्यग्धर्म्मासम्यग्धर्म्मयोः कथं साम्यं स्यादिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ तदेवमेकदण्डिनो निराकृत्यार्द्रककुमारो यावद्भगवदन्तिकं व्रजति तावद्धस्तितापसाः परिवृत्य तस्थुरिदं च प्रोचुरित्याह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु ।

सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥ ५२ ॥

व्याख्या—हस्तिनं व्यापाद्यात्मनो वृत्तिं कल्पयन्तीति हस्तितापसास्तेषां मध्ये कश्चिद्वृद्धतम एतदुवाच, तद्यथा-भो आर्द्रककुमार! सश्रुतिकेनाल्पबहुत्वमालोचनीयं, तत्र येऽमी तापसाः कन्दमूलफलाशिनस्ते बहूनां सत्त्वानां स्थावराणां तदाश्रितानां चोदुम्बरादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्त्तन्ते, येऽपि च भैक्ष्येणात्मानं वर्त्तयन्ति तेऽप्याशंसादोषदूषिता इतश्चेतश्चाटाट्यमानाः पिपीलिकादिजन्तूनामुपघाते वर्त्तन्ते, वयं च संवत्सरेण अपिशब्दात् षण्मासेन चैकैकं हस्तिनं महाकायं बाणप्रहारेण व्यापाद्य शेषसत्त्वानां दयार्थमात्मनो वृत्तिं [वर्षमेकं यावत्] कल्पयामः । तदेवं वयमल्पसत्त्वोपघातेन प्रभूततरसत्त्वानां रक्षां कुर्म इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ साम्प्रतमेतदार्द्रककुमारो हस्तितापसमतं दूषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणिअत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

व्याख्या—संवत्सरेणैकैकं प्राणिनं घ्नन्तोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषास्ते भवन्ति, एतावता धर्मबुद्ध्या शेषजीवरक्षार्थमेकैकं प्राणिनं घ्नतामपि प्राणिवधो लगत्येव, आशंसादोषश्च भवतां पञ्चेन्द्रियमहाकायसत्त्ववधपरायणानामतिदुष्टो भवति, साधूनां सूर्यरश्मिप्रकाशितवीथिषु युगमात्रदृष्ट्या गच्छतामीर्या[समिति]समितानां द्विचत्वारिंशद्दोष[रहित]माहारमन्वेषयतां लाभालाभसमवृत्तीनां कुत आशंसादोषः ? पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो वा ? तथा (यदि) स्तोकसत्त्वोपघातेन दोषाभावोऽभ्युपगम्यते तदा गृहस्था अपि आजीविकार्थमारम्भं कुर्वन्तः स्वक्षेत्रे आरम्भं कुर्वन्ति, न परत्र क्वापि, तेऽपि स्तोकजीववधकारिणोऽपरसर्वजन्तूनां क्षेत्रकालव्यवहितानां रक्षणाद् गृहिणोऽपि निर्दोषा एव, स्तोकजीववधकारिणः प्रभूतसत्त्वरक्षकाः, ततस्तेऽपि भवदभिप्रायेण गृहस्था अपि दोषरहिता एवेति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

साम्प्रतमार्द्रकुमारो हस्तितापसान् दूषयित्वा तदुपदेष्टारं दूषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं वहंता समणव्वतेसु ।
आयाहिते से पुरिसे अणज्जे, नो तारिसे केवलिणो भवंति ॥ ५४ ॥

व्याख्या—भो हस्तितापसाः ! भवन्मते श्रमणव्रते व्यवस्थिताः सन्तः एकैकं संवत्सरेणापि ये घ्नन्ति ये चोपदिशन्ति

ते अनार्या, असत्कर्मानुष्ठायित्वात्, तथा आत्मनः परेषां चाहितास्ते पुरुषाः केवलिनो न भवन्ति, तथा एकस्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पिपीलिकाश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनश्यन्ति ते तैः प्राणिघातोपदेशकैर्न दृष्टा, न च तैर्निरवद्योपायो माधुकर्या वृत्त्या यो भवति स दृष्टः, अतस्ते न केवलमकेवलिनो विशिष्टविवेकरहिताश्चेति। तदेवं हस्तितापसान्निराकृत्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्द्रकुमारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्टूयमानं तं समुपलभ्याभिनवगृहीतः सर्वलक्षणसम्पूर्णो वनहस्ती समुत्पन्नतथाविधविवेकोऽचिन्तयत्, यथा—अयमार्द्रकुमारोऽपाकृताशेषतीर्थिको निष्प्रत्यूहं सर्वज्ञपादपद्मान्तिकं वन्दनाय व्रजति, ततोऽहमपि यद्यपगताशेषबन्धनः स्यां तत एनं महापुरुषमार्द्रकुमारं प्रबुद्धतस्करपञ्च-शतोपेतं तथा प्रबोधितानेकवादिगणसमन्वितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं गत्वा वन्दामीत्येवं यावदसौ हस्ती कृतसङ्कल्प-स्तावत्त्रटत्त्र(टदिति त्रु)टितसमस्तबन्धनः स आर्द्रकुमारं प्रति प्रचलकर्णतालस्तथोर्द्ध्वप्रसारितदीर्घकरः प्रधावितः, तदनन्तरं लोकेन कृतहाहारवमंकलकलेन पूत्कृतं, यथा—धिक्कष्टं ! हतोऽयमार्द्रकुमारो महर्षिर्महापुरुषस्तदेवं प्रलपन्तो लोका इतश्चे-तश्च प्रपलानाः, असावपि वनहस्ती समागत्यार्द्रकुमारसमीपं भक्तिसम्भ्रमावनतायत(प्रमा)गोत्तमाङ्गो निभृतकर्ण-तालस्त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताग्रभागः स्पृष्टकराग्रचरणयुगलः सुप्रणिहितमनाः प्रणिपत्य महर्षिं वना-भिमुखं ययाविति । तदेवमार्द्रकुमारतपोऽनुभावाद्बन्धनान्मुक्तं महागजमुपलभ्य सपौरजनवृन्दः श्रेणिकराजस्तमार्द्र-कुमारं महर्षिं तत्तपःप्रभावं चाभिनन्द्य अभिवन्द्य च प्रोवाच—भगवन् ! आश्चर्यमिदं यदसौ वनहस्ती तादृग्विधाच्छृङ्खलो-च्छेद्याच्छृङ्खलाबन्धनाद्युष्मत्तपःप्रभावान्मुक्त इत्येतदतिदुष्करमित्येवमभिहिते आर्द्रकुमारः प्रत्याह—भो श्रेणिकमहाराज !

नैतद्दुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनान्मुक्त, अपि त्वेतद्दुष्करं यत्स्नेहपाशमोचनं । एतच्च प्राग्निर्युक्तिगाथया दर्शितम्, सा चेयं- " + न दुक्करं वा णरपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणंमि रायं । जहा उ वत्तावलिएण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं ॥ १ ॥ " एवमार्द्रकुमारो राजानं प्रतिबोध्य भगवदन्तिकं गत्वाऽभिवन्द्य च भगवन्तं भक्तिभरनिर्भर आसाञ्चके । भगवानपि तानि पञ्चापि शतानि प्रव्राज्य तच्छिष्यत्वेनोपनिन्ये इति गाथार्थः ॥ ५४ ॥

सम्प्रतं समस्ताध्ययनोपसंहारार्थमाह—

बुद्धस्स आणाइ इमं समाहिं, अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं च महाभवोघं, आयाण वंथं समुदाहरिज्जा त्ति बेमि ॥ ५५ ॥

अद्दइज्जं छट्ठं अज्झयणं समत्तं ।

व्याख्या—' बुद्ध ' अवगततत्त्वः सर्वज्ञो वर्द्धमानस्वामी, तस्याज्ञया—तदागमेनेमं समाधिं सद्धर्मावाप्तिलक्षणमवाप्यास्मिंश्च समाधौ सुष्ठु स्थित्वा मनोवाक्कायैश्च प्रणिहितेन्द्रियः स एवम्भूतः आत्मनः परेषां च ' त्रायी ' त्राणशीलस्तायी वा

+ " न दुष्करमेतन्नरपाशैर्बद्धमत्तवारणस्य विमोचनं वने राजन् ! । एतत्तु मे प्रतिभाति दुष्करं यच्च वत्रावलितेन तन्तुना मम प्रतिमोचनमिति " बृहद्वृत्ति ।

गमनशीलो मोक्षं प्रति, स एवम्भूतस्तरीतुमतिलङ्घ्य समुद्रमिव दुस्तरं महाभवौघं मोक्षार्थमादीयत इत्यादानं-सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्ररूपं, तद्विद्यते यस्यासावादानवान् साधुः, स च सम्यग्दर्शनेन सता परतीर्थिकतपस्समृद्धिदर्शनेन मौनीन्द्रदर्शनान्न प्रच्यवते, सम्यग्ज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतः समस्तप्रावादुकवादनिराकरणेनापरेषां यथावस्थितमोक्षमार्गमाविर्भावयतीति, सम्यक्चारित्रेण तु समस्तभूतग्रामहितैषितया निरुद्धाश्रवद्वारः संस्तपोविशेषाच्चानेकभवोपार्जितं कर्म निर्जरयति स्वतोऽन्येषां चैवं प्रकारमेव धर्ममुदाहरेद्व्यागृणीयादाविर्भावयेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥ इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

इति श्रीपरमसुविहितखरतरगच्छविभूषणपाठकप्रवरश्रीमत्साधुरङ्गगणिसन्दृब्धायां श्रीसूत्रकृताङ्गदीपिकायां समाप्तश्चेदमार्द्रकुमाराध्ययनं षष्ठमिति ।

+ अपरिभूए । से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए आवि होत्था । अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ । ×[निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे लद्धट्ठे गहियट्ठे पुच्छियट्ठे विणिच्छियट्ठे अभिगहियट्ठे अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्ते, अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अयं अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे, उस्सियफलिहे अप्पाव(अवंगु)यदुवारे चियत्तंतेउरप्पवेसे चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासीणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणे समणे निग्गंथे तहाविहेणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणे बहूहिं सीलव्वयगुणविरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे एवं च णं विहरइ ॥ सू० २]

तस्स णं लेवस्स गाहावइस्स तीए नालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं

+ ' जाव ' इत्यत्र " विच्छिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजातरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूते बहुजणस्स " इति पाठः प्रत्यंतरे ।

× [ ] एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठो नास्ति सर्वेष्वपि दीपिकादर्शेषु ।

सेसदवियानामं उदगसाला होत्था। अणेगखंभसयसंनिविट्ठा पासादीया जाव पडिरूवा, तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था, किण्हे वण्णओ वणसंडस्स [सू० ३]

व्याख्या—शेषद्रव्याभिधाना-गृहोपयुक्तशेषद्रव्येण कृता, एवंविधा 'उदकशाला' पानीयशाला 'तस्य' लेपस्य गाथापतेरासीत्।

तंसि च णं गिहपदेसंसि भयवं गोयमे विहरति, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते[भगवं]पासावच्चिज्जे नियंठे मेतज्जे गोत्तेणं, जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भयवं गोयमं एवं वयासी—

व्याख्या—सुगमैवेति। भगवान् श्रीगौतमः साधुभिः परिवृतस्तस्मिन् वनषण्डे स्थित आसीत्। स उदको गौतमस्वामिसमीपं समागत्य भगवन्तमेवमवादीत्—

आउसंतो गोयमा ! अत्थि खलु मे केइ पएसे पुच्छियव्वे, तं च मे आउसो ! अहासुयं अहादरिसियं मे वियागरेज्जाहि सवायं। भयवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—अवियाइं

आउसो ! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो । सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—

व्याख्या—आयुष्मन् गौतम ! 'अस्ति' विद्यते मम कश्चित्प्रदेशः—प्रश्नः प्रष्टव्यः, तत्र सन्देहात्, तं च प्रदेशं मम यथाश्रुतं भवता यथा च भगवता सन्दर्शितं तथैव मम—'व्यागृणीहि' प्रतिपादय एवं पृष्टः, स चायं भगवान् सवादं वा शोभनभारतीकं वा प्रश्नं पृष्टस्तमुदकं पेढालपुत्रमेवमवादीत्तद्यथा—अपि चायुष्मन्नुदक ! 'श्रुत्वा' भवदीयं प्रश्नं निशम्य—चावधार्य च गुणदोषविचारणतः सम्यगहं ज्ञास्ये । तदुच्यतां विश्रब्धं भवता स्वाभिप्रायः । सवादमुद(कः)यः पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्तद्यथा—

आउसो गोयमा ! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नामं समणा निग्गंथा तुम्हाणं पवयणं पवयमाणा गाहावतिं समणोवासगं उवसंपन्नं एवं पच्चक्खाविंति—णण्णत्थ अभिओएणं, गाहावती चोरग्गहणविमोक्खणताए तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं । एवं ह्रं पच्चक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ । एवं ह्रं पच्चक्खावेमाणाणं दुप्पच्चक्खावियं भवइ । एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पतिण्णं, कस्स णं तं हेउं ? ।

व्याख्या—भो गौतम ! अस्तीति—विद्यन्ते सन्ति कुमारपुत्रा नाम निर्ग्रन्था युष्मदीयं प्रवचनं प्रवदन्तस्तद्यथा—गृहपतिं

श्रमणोपासकमुपसम्पन्नं–नियमायोत्थितमेवं 'प्रत्याख्यापयन्ति' प्रत्याख्यानं कारयन्ति–स्थूलेषु प्राणिषु 'दण्डं' विनाशं परित्यज्य प्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वन्ति, एतावता स्थूलप्राणातिपातनिवृत्तिं कुर्वन्ति, अन्यत्र राजाद्यभियोगेन यः प्राण्युपघातो न तत्र निवृत्तिरिति, राजाद्यभियोगं विना स्थूलप्राणिवधनिवृत्तिः परमन्येषां स्थूलव्यतिरिक्तानां प्राणिनां वधानुमतिप्रत्ययो दोषः स्यात्। एतावता त्रसप्राणिवधनिवृत्तौ कृतायामन्येषां प्राणिनामनुमतिदोषो लगतीति भावः, इत्याद्य[शङ्कावानाह]शङ्कां ज्ञात्वा आह—

['गाहावइं' इत्यादि,] अस्य चार्थमुत्तरत्राविर्भावयिष्यामः–अग्रे कथयिष्यामः। 'एवं ह्'मित्यादि, एवमेव त्रसप्राणिविशेष[ण]त्वेनापरत्रसभूतविशेषणरहितत्वेन प्रत्याख्यानं गृह्णतां श्रावकाणां दुष्प्रत्याख्यातं भवति, प्रत्याख्यानभङ्गसद्भावात्, प्रत्याख्यापयितामपि साधूनां दुष्टं प्रत्याख्यानदानं भवति, किमिति? अत आह—एवं ते साधवः प्रत्याख्यानं कारयन्तः श्रावकाश्च प्रत्याख्यानं गृह्णन्तः स्वां प्रतिज्ञामतिचरन्ति–अतिलङ्घयन्ति, एवं कुर्वतामेवं च कारयतां प्रत्याख्यानं भज्यते। 'कस्स णं तं हेउं' केन कारणेन प्रतिज्ञामतिचरन्ति–प्रतिज्ञाभङ्गो भवति? उद(क)य उवाच—

संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति। तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं। [सू० ४]

व्याख्या—सांसारिकाः खलु 'प्राणा' जन्तवः स्थावराश्च यद्यपि प्राणिनः सन्तोऽपि तथाविधकर्मोदयात्'त्रसतया' त्रसत्वेन 'प्रत्यायान्ति' उत्पद्यन्ते, तथा त्रसा अपि स्थावरतयोत्पद्यन्ते, एवं च परस्परगमने व्यवस्थिते सत्यवश्यम्भावी प्रतिज्ञाविलोपस्तथाहि-नागरिको मया न हन्तव्य एवम्भूता प्रतिज्ञा येन गृहीता स यदा बहिरारामादौ व्यवस्थितं नागरिकं व्यापादयेत् किमेतावता तस्य न भवेत्प्रतिज्ञालोपः ? एवमत्रापि येन त्रसवधनिवृत्तिः कृता स यदा तमेव त्रसं प्राणिनं स्थावर-कायस्थितं व्यापादयेत् किं तस्य न भवेत्प्रतिज्ञाभङ्गः ? अपि तु भवत्येवेत्यर्थः । एवमपि स्थावरकाये समुत्पन्नानां त्रसानां यदि तथाभूतं किञ्चिदसाधारणं लिङ्गं स्यात्तदने त्रसाः स्थावरत्वेऽप्युत्पन्नाः शक्यन्ते परिहर्तुं, न च तदस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह–'थावरकायाओ' इत्यादि, स्थावरकायात्प्रविमुच्यमानाः–स्थावरकायायुषा विप्रमुक्तास्त(द्योग्यैश्च)अपरैः कर्मभिः सर्वात्मना त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, तथा त्रसकायादपि सर्वात्मना विप्रमुच्यमानाः (तत्कर्मभिः) स्थावरकाये समुत्पद्यन्ते, तत्र चोत्पन्नानां तथाभूतत्रसलिङ्गाभावात्प्रतिज्ञालोप इत्येतत्सूत्रेण दर्शयति 'तेसिं च णं' मित्यादि, तेषां–त्रसानां स्थावरकाये समुत्पन्नानां गृहीतत्रसप्राणातिपातविरतेः श्रावकस्याप्यारम्भप्रवृत्तत्वेनैतत्त्रसा[स्थावरा]ख्यं स्थानं घात्यं भवति, यतः स्थावरवधादनिवृत्तत्वात्सं स्थावरोत्पन्नं घातयति, एवं कृतत्रसप्रत्याख्यानस्य श्रावकस्य प्रतिज्ञाभङ्गः स्यात् ।

एवं ण्हं पच्चक्खंताणं सुप्पच्चक्खायं भवइ, एवं ण्हं पच्चक्खावेमाणाणं सुप्पच्चक्खावियं भवइ, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा नाइयरंति सयं पइन्नं ॥

व्याख्या—नागरिकदृष्टान्तेन त्रसमेव स्थावरत्वेनायातं व्यापादयतोऽवश्यं प्रतिज्ञाभङ्गः, यतस्तत एव मदुक्तया [वक्ष्यमाण]नीत्या प्रत्याख्यानं कुर्वतां सुप्रत्याख्यातं भवति । एवमेव च प्रत्याख्यापयतां सुप्रत्याख्यातं भवति, एवं च प्रत्याख्यानं कुर्वन्तः कारयन्तश्च नाऽतिचरन्ति स्वीयां प्रतिज्ञामित्येतद्दर्शयितुमाह—

नन्नत्थ अभिओगेणं गाहावईचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसभूतेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, एवमेव सइ भासाए परक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहा वा परं पच्चक्खावेंति अयंपि नो उवएसे भे किं णेयाउए भवति? अवियाइं आउसो गोयमा ! तुब्भंपि एयं रोयति ?। [सू० ५]

व्याख्या—तत्र गृहपतिः प्रत्याख्यानमेवं गृह्णाति, तद्यथा—त्रसभूतेषु वर्त्तमानकाले त्रसत्वेनोत्पन्नेषु 'दण्डः' प्राणुपमर्दस्तन्निहाय—परित्यज्य प्रत्याख्यानं करोति, तदिह भूतत्वविशेषणात्स्थावरपर्यायापन्नवधेऽपि न प्रत्याख्यानभङ्गः, गृहपतिचोरविमोक्षणन्यायेन, एतदपि युक्तमेव सम्यगुक्तं, तदेतदपि त्रसकाये भूतत्वविशेषणमभ्युपगम्यतां, एतदभ्युपगमे हि यथा क्षीरविकृतिप्रत्याख्यायिनो दधिभक्षणेऽपि न प्रतिज्ञाविलोपस्तथा त्रसभूताः सत्त्वा न हन्तव्या इत्येवं प्रतिज्ञावतः स्थावरहिंसायामपि न प्रत्याख्यानातिचारः, तदेवं विद्यमाने सति 'भाषायाः' प्रत्याख्यानवाचः 'पराक्रमे' भूतविशेषणाद्दोषपरिहारसामर्थ्ये एवं पूर्वोक्तया नीत्या सति दोषपरिहरणोपाये ये केचन क्रोधाद्वा लोभाद्वा 'परं' श्रावकादिकं भूतशब्दनिर्विशेषणमेव प्रत्याख्यापयन्ति तेषामेवं प्रत्याख्यानं ददतां मृषावादो भवति गृह्णतां चावश्यं भावी व्रतलोप इति,

तदेवमयमपि 'नः' अस्मदीयोपदेशाभ्युपगमो भूतत्वविशेषणविशिष्टः पक्षः किं भवतां नैव 'नैयायिको' न्यायोपपन्नो भवति ? इदमुक्तं भवति भूतत्वविशेषणेन हि स्थावरोत्पन्नान् हिंसतोऽपि न प्रतिज्ञाऽतिचार इति । अपि च आयुष्मन् गौतम ! तुभ्यमपि रोचते एवमेतद्यथा मया व्याख्यातं । एवमभिहितो गौतमः सद्वाचं सवादं वा तमुदकं पेढालपुत्रमेवं वक्ष्यमाणमवादीत्तद्यथा—

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो ! उदगा ! नो खलु अम्हं एयं एवं रोयति, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूविंति, नो खलु ते समणा वा निग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति ।

व्याख्या—आयुष्मन् उदक ! नो खलु अस्मभ्यमेतदेवं, यद्यथा त्वयोच्यते, तद्रोचते, इदमुक्तं भवति—यदिदं त्रसकायविरतौ भूतत्वविशेषणं क्रियते तन्निरर्थकतयाऽस्मभ्यं न रोचत इति । तदेवं व्यवस्थिते भो उदक ! ये ते श्रमणा वा ब्राह्मणा वा एवं भूतशब्दविशेषणत्वेन प्रत्याख्यानमाचक्षते, परैः पृष्टास्तथैव भाषन्ते प्रत्याख्यानं स्वतः कुर्वन्तस्तत्कारयन्तश्चैवमिति सविशेषणं प्रत्याख्यानं भाषन्ते, एवमेव सामान्येन प्ररूपयन्तो न खलु ते श्रमणा वा निर्ग्रन्था वा यथार्थां भाषां भाषन्ते, अपि तु अनुतापिकां भाषां भाषन्ते, अन्यथाप्ररूपणे श्रोतुरनुतापो भवति, तेनानुतापिकेत्युच्यते । तथा पुनरपि तेषां सविशेषणप्रत्याख्यानवतामुल्वण(प्रकट)दोषमाह—

अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए वा, जेहिं वि अन्नेहिं पाणेहिं भूतेहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमयंति, ताण वि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेउं ? ।

व्याख्या—तेहि सविशेषणप्रत्याख्यानवादिनो यथावस्थितप्रत्याख्यानं ददतः साधून् गृहतश्च श्रावकान् 'अभ्याख्यान्ति' अभूतदोषोद्भावनतोऽभ्याख्यानं ददति । किञ्चान्यत्-येष्वप्यन्येषु प्राणिषु भूतेषु जीवेषु सत्त्वेषु ये 'संयमयन्ति' संयमं कुर्वन्ति, तद्यथा—ब्राह्मणो न मया हन्तव्य इत्युक्ते स यदा वर्णान्तरे तिर्यक्षु वा व्यवस्थितस्तदा तद्वधे ब्राह्मणवध आपद्यते, भूतशब्दाविशेषणात्, एवं ते भूतशब्दविशेषणवादिनोऽन्यान् 'अभ्याख्यान्ति' दूषयन्ति । 'कस्स णं तं हेउं' कस्माद्धेतोस्तदसद्भूतं दूषणं भवति ? यस्मात्—

संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं । [सू० ६]

व्याख्या—सांसारिकाः खलु प्राणाः परस्परं जातिसङ्क्रमणभाजो भवन्ति, यतस्त्रसाः प्राणाः स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति स्थावराश्च त्रसत्वेनेति, त्रसकायाश्च सर्वात्मना त्रसायुष्कं परित्यज्य स्थावरकाये तद्योग्यकर्मोपादानादुत्पद्यन्ते तथा-स्थावरकायाच्च तदायुष्कादिना कर्मणा विमुच्यमानास्त्रसकाये समुत्पद्यन्ते, तेषां च स्थावर[त्रस]काये समुत्पन्नानां स्थान-

मेतस्मत्प्रत्याख्यानमयथार्थं—न साधु भवति, यस्मात्तेन श्रावकेण त्रसानुद्दिश्य प्रत्याख्यानं कृतमस्ति, तस्य तीव्राध्यवसायोत्पादकत्वाल्लोकगर्हितत्वाच्चेति, तत्रासौ स्थूलप्राणातिपातान्निवृत्तस्तन्निवृत्त्या च त्रसस्थानमवाप्य प्रवर्तते, स्थावरेष्वविरत इति, तद्योग्यतया तत्स्थानं घात्यमिति। स्थावरकाये समुत्पन्नस्य त्रसप्राणस्य पर्यायान्तरमापन्नस्य स्थावरकायवधेऽपि कर्म न लगति, न प्रत्याख्यानभङ्ग इति। तदेवं स भवदभिप्रायेण विशिष्टसत्त्वोद्देशेनापि प्राणातिपातनिवृत्तौ कृतायामपरपर्यायापन्नं प्राणिनं व्यापादयतो व्रतभङ्गो भवति, ततश्च न कस्यचित्सम्यग् व्रतपालनं स्यात् इति। एवमभ्याख्यानमभूतदोषोद्भावनं भवन्तो वदन्ति। यद्यपि भवद्भिर्वर्तमानकालविशेषणत्वेन किलायं भूतशब्द उपादीयतेऽसावपि व्यामोहाय केवलं भ्रान्तिरेवेयं, तथाहि—भूतशब्दोऽयमुपमानेऽपि वर्तते, तद्यथा देवलोकभूतं नगरमिदं, न देवलोक एव, तथाऽत्रापि त्रसभूतानां—त्रससदृशानामेव प्राणिनां प्राणातिपातनिवृत्तिः कृता स्यात्, न तु त्रसानामिति। अथवा तादर्थ्ये भूतशब्दोऽयं, यथा शीतीभूतमुदकं शीतमित्यर्थः, एवं त्रसभूतास्त्रसत्वं प्राप्ताः, तथा च सति त्रसशब्देनैव गतार्थत्वात्पौनरुक्त्यं स्यात्। अथैवमपि स्थिते भूतशब्दोपादानं क्रियते तन्निरर्थकमतिप्रसङ्गः स्यात्। तदेवं निरस्ते भूतशब्दे सति उदक आह—

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—कयरे खलु ते आउसंतो गोयमा ! तुब्भे वयह तसा पाणा तसा अह अन्नहा ? सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसा ते वयं वदामो तसा पाणा, जे वयं वदामो

तसा पाणा ते तुब्भे वयह तसभूया पाणा, एते संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो ! इमे भे (भवतां) सुप्पणीततराए भवति—तसभूता पाणा [तसा], इमे भे दुप्पणीततराए भवति—तसा पाणा [तसा], ततो एगमाउसो ! पडिक्कोसह एक्कं अभिणंदह, अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवति।

व्याख्या—'सवाय'मित्यादि, सद्वाचं सवादं वा उदकः—पेढालपुत्रो भगवन्तं गौतममेवमवादीत्, तद्यथा—हे आयुष्मन् गौतम ! कतरान् प्राणिनो यूयं वदथ ? त्रसा एव प्राणाः—प्राणिनस्त एव त्रसाः प्राणाः—उतान्यथेत्येवं पृष्टो भगवान् गौतमस्तमुदकं पेढालपुत्रं एवमवादीत् आयुष्मन्नुदक ! यान् प्राणिनो यूयं वदथ त्रसभूतास्त्रसत्वेनाविर्भूताः प्राणिनो, नातीताः नाप्येष्याः, किन्तु वर्त्तमानकाल एव त्रसाः प्राणा इति, तानेव वयं वदामस्त्रसाः—त्रसत्वं प्राप्तास्तत्कालवर्त्तिन एव त्रसाः प्राणाः 'जे वय' मित्यादि, यान् वयं वदामस्त्रसा एव प्राणास्त्रसाः प्राणास्तान् यूयमेवं वदथ—त्रसभूता एव प्राणाः, एवं च व्यवस्थिते किमायुष्मन् ? युष्माकमयं पक्षः सुष्ठु 'प्रणीततरो' युक्तियुक्तः प्रतिभासते ? तथा त्रसा एव प्राणास्त्रसाः इत्ययं तु पक्षो दुष्प्रणीततरो 'भवति' प्रतिभासते भवतां ? तद्यथा—त्रसभूताः प्राणास्त्रसाः, त्रसाः प्राणास्त्रसाः, कोऽयं भेदः ? एकार्थिका एते, एकार्थिकत्वेन भवतां कोऽयं व्यामोहो ? येन शब्दभेदमात्रमाश्रित्य एकं पक्षमाक्रोशथ द्वितीयं त्वभिनन्दथ इति, तदयमपि तुल्येऽप्यर्थे सत्येकस्य पक्षस्याक्रोशनमपरस्याभिनन्दनमित्युपदेशाभ्युपगमो भवतां नो नैयायिको—न न्यायोपपन्नो भवति, उभयोरपि पक्षयोः समानत्वात्, केवलं सविशेषणपक्षे भूतशब्दोपादानं मोहयावहतीति। पुनर्प्युक्तं भवता—

त्रसानां वधनिवृत्तौ कारितायां साधोरनुमतिदोषः स्थावरप्राणिविषयो लगति, भूतशब्दाकथनेऽनन्तरमेव त्रसं स्थावरपर्यायापन्नं व्यापादयतो व्रतभङ्ग इत्येतदपि न किञ्चित्, तत्परिहर्तुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणूसा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—नो खलु वयं संचाएमो मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं अणुपुव्वेणं गोत्तस्स लिसिस्सामो, ते एवं संखं सावेंति ते एवं संखं ठवयंति, नन्नत्थ अभिओएणं।

व्याख्या—भगवान् गौतमस्वामी पुनराह—सन्त्येके केचन लघुकर्माणो मनुष्याः प्रव्रज्यां कर्तुमसमर्थाः प्रव्रज्यां विना धर्मं चिकीर्षवः साधोर्धर्मोपदेशदानोद्यतस्याग्र इदमुक्तपूर्वं भवति, तथाहि—भोः साधो! न खलु वयं शक्नुमो मुण्डा भवितुं—प्रव्रज्यां गृहीतुं अगारादनगारतां—साधुभावं प्रतिपत्तुं, वयं त्वाऽनुपूर्व्येण—क्रमशो 'गोत्रं' साधुत्वं, तस्य साधुभावस्य 'पर्यायेण' परिपाट्याऽस्मानमनुश्लेषयिष्यामः। इदमुक्तं भवति—पूर्वं देशविरतिरूपं श्रावकधर्मं अनुपालयामस्ततोऽनुक्रमेण पश्चाच्छ्रमणधर्ममिति। तत एवं ते 'संख्यां' व्यवस्थां श्रावयन्ति। एवं व्यवस्थां प्रत्याख्यानं कुर्वन्तः 'स्थापयन्ति' प्रकाशयन्ति नान्यत्र अभियोगेन, स च "रायाभिओगो गणाभिओगो देवयाभिओगो बलाभिओगो गुरुनिग्गहो" इत्येवमादिनाऽभियोगेन व्यापादयतोऽपि त्रसं न व्रतभङ्गः। एवं साधूपदेशेन प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति।

गाहावइचोरग्गहणविमोक्खणताए।

अस्यायमर्थः—रत्नपुरे नगरे रत्नशेखरो नाम राजा, तेन च परितुष्टेन रत्नमालाऽग्रमहिषी प्रमुखाऽन्तःपुरस्य कौमुदी-महोत्सवे नगरस्यान्तः स्वेच्छाप्रचारोऽनुज्ञातः। तदवगम्य नागरलोकेनापि राजाऽनुमत्या स्वकीयस्य स्त्रीजनस्य तथैव क्रीडनमनुमतं, राज्ञा च नगरे सडिण्डिमशब्दमाघोषितं, तद्यथा—अस्तमनोपरि कौमुदीमहोत्सवे प्रवृत्ते यः कश्चित्पुरुषो नगरमध्ये स्थितः प्रच्छन्नमुपलब्धश्च तदा तस्य शरीरनिग्रहं करिष्यामि न केनाप्यस्मिन्नर्थे विज्ञप्तिः कार्या नाहं तं मोक्ष्यामि, इत्येवं व्यवस्थिते सत्येकस्य वणिजः षट्पुत्राः, ते च कौमुदीदिने क्रयविक्रयव्यग्रतया तावत्स्थिताः यावत्सूर्योऽस्तंगतः, तदनन्तरमेव स्थगितानि च नगरद्वाराणि, तेषां च व्यग्रतया न निर्गमनमभूत्। ततस्ते भयसम्भ्रान्ताः नगरमध्य एवाऽऽत्मानं गोपयित्वा स्थिताः। ततोऽतिक्रान्ते कौमुदीप्रचारे राज्ञाऽऽरक्षकाः समाहूयादिष्टाः, यथा—सम्यग्निरूपयत यूयमत्र कौमुदीप्रचारे नगरान्तः कश्चित्पुरुषो व्यवस्थित इति। तैरप्यारक्षकैः सम्यङ् निरूपयद्भिरुपलब्ध षड्वणिक्पुत्रवृत्तान्तो राज्ञे निवेदितः। राज्ञाऽप्याज्ञाभङ्गकुपितेन तेषां षण्णामपि वधः समादिष्टः। ततस्तत्पिता पुत्रवधमाकर्ण्य गुरुशोकविह्वलोऽकालापतितकुलक्षयोद्भ्रान्तलोचनः किंकर्तव्यतामूढतयाऽगणितविधेयाविधेयविशेषो राजानमुपस्थितोऽवादीच्च गद्गदया गिरा, यथा—मा कृथा देव! कुलक्षयमस्माकं, गृह्यतामिदमस्मदीयं कुलक्रमायातं स्वभुजोपार्जितं च प्रभूतं द्रविणजातं, मुच्यताममी षट्पुत्राः, क्रियतामयमस्माकमनुग्रहः इत्येवमभिहितो राजा तद्वचनमाकर्ण्य विशेषं पुनरपि वधमादिदेश। अथासावपि वणिक् सर्ववधाशङ्की समस्तमोचनानभिप्रायं राजानमवेत्य पञ्चानां मोचनं याचितवान्, तानप्यसौ राजा न मोक्तुमना इत्येवमवगम्य चतुर्मोचनकृते सादरं विज्ञप्तवान्, तथाऽपि राजा समनादृत्य कुपितवदन एव स्थितः। ततस्त्रयाणां विमोचने

कृतादरस्तत्पिताऽभूत्तानप्यमुञ्चन्तं राजानं ज्ञात्वा गणितस्त्रापराधो द्वयोर्विमोचनं प्रार्थितवान्, तथाप्यवज्ञाप्रधानं नृपतिमवगम्य ततः पौरमहत्तरसमेतो राजानमेवं विज्ञप्तवान् देव ! अस्माकमयं कुलक्षयः समुपस्थितः, तस्माद्भवन्त एव त्राणायालं, अतः क्रियतामेकपुत्रविमोचनेन महाप्रसाद इति भणित्वा पादयोः सपौरमहत्तमः पतितः, ततो राज्ञापि सञ्जातानुकम्पेन मुक्तस्तदेको ज्येष्ठपुत्र इति । तदेवमस्य दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकयोजनेयं, तद्यथा—साधुनाऽभ्युपगतसम्यग्दर्शनमवगम्य श्रावकमखिलप्राणातिपातविरतिग्रहणायाभ्यर्थितः, परं श्रावकः षट्कायरक्षणेऽसमर्थतया यदा न सर्वप्राणातिपातविरतिं प्रतिपद्यते, यथाऽसौ राजा वणिजोऽत्यर्थं विलपतोऽपि न षडपि पुत्रान् मुमुक्षति नाऽपि पञ्चचतुस्त्रिद्विसंख्यानिति, तत एकविमोक्षणेनात्मानं कृतार्थमिव मन्यमानः स्थितोऽसौ, एवं साधोरपि श्रावकस्य यथाशक्ति व्रतं गृह्णतस्तदनुरूपमेवाणुव्रतदानमविरुद्धं, यथा च तस्य वणिजो न शेषपुत्रवधानुमतिलेशोऽप्यस्ति एवं साधोरपि न शेषप्राणिवधानुमतिप्रत्ययजनितः कर्मबन्धो भवति, किं तर्हि ? यदेव व्रतं गृहीत्वा यानेव सत्त्वान् बादरान् सङ्कल्पजप्राणातिपातनिवृत्त्या रक्षति तन्निमित्तः कुशलानुबन्ध एव इत्येतत्सूत्रेणैव दर्शयितुमाह—

तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तंपि तेसिं कुसलमेव भवति । [सू० ७]

व्याख्या—त्रसेषु द्वीन्द्रियादि 'निहाय' परित्यज्य त्रसेषु प्राणातिपातविरतिं गृहीत्वेत्यर्थः, तदपि त्रसप्राणातिपातविरमणव्रतं 'तेषां' देशविरतिधारिणां कुशलमेव भवति । यच्च प्रागभिहितं, तद्यथा—तमेव त्रसं स्थावरपर्यायापन्नं

नागरिकमिव बहिःस्थं व्यापादयतोऽवश्यं भावी व्रतभङ्ग इत्येतत्परिहर्तुकाम आह—

तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा नामं च णं अब्भुवगतं भवति, तसाउयं च णं पलिखीणं भवति, तसकायट्ठितीया ते ततो आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति । थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा णामं च णं अब्भुवगतं भवति, थावरआउं च णं पलिखीणं भवति, थावरकायट्ठितीया तो आउगं विप्पजहंति, ततो-आउगं विप्पजहित्ता भुज्जो पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया चिरट्ठितीया [सू० ८]

व्याख्या—'त्रसा' द्वीन्द्रियादयोऽपि त्रसा उच्यन्ते, ते च त्रसाख्यसम्भारकृतेन कर्मणा भवन्ति, सम्भारो नाम अवश्यतया कर्मणो विपाकानुभवेन वेदनं, एवं त्रसनामकर्मणा त्रसा अभिधीयन्ते, त्रसत्वेन यत्प्रतिबद्धमायुष्कं तद्य-दोदयप्राप्तं भवति, तदा त्रससम्भारकृतेन कर्मणा त्रसा इति व्यपदिश्यन्ते । यदा [च] त्रसायुः परिक्षीणं भवति, त्रसकाय-स्थितिकं च कर्म यदा परिक्षीणं भवति, तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेमुत्कृष्टतः सातिरेकसागरोपमसहस्रद्वयपरिमाणं, तदा, तत्त्रसकायस्थितेरभावात्तदायुष्कं ते परित्यजन्ति, अपराण्यपि तत्सहचरितानि कर्माणि परित्यज्य स्थावरत्वेन प्रत्या-

यान्ति, स्थावरादि नाम च तत्राभ्युपगतं भवति, अपराण्यपि तत्सहचरितानि सर्वात्मना त्रसत्वं परित्यज्य स्थावरत्वेनोदयं यान्ति इति, एवं व्यवस्थिते कथं स्थावरकायं व्यापादयतो गृहीतत्रसकायप्राणातिपातनिवृत्तेः श्रावकस्य व्रतभङ्गः ? इति। किञ्चान्यत् 'थावराउयं च ण'मित्यादि, यदा तदपि स्थावरायुष्कं परिक्षीणं भवति [तथा] स्थावरकायस्थितिश्च, सा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतोऽनन्तकालमसङ्ख्येयपुद्गलपरावर्ता इति, ततस्तत्कायस्थितेरभावात्तदायुष्कं परित्यज्य भूयः पारलौकिकत्वेन स्थावरकायस्थितेरभावात्त्रसत्वेन प्रत्यायान्ति। 'ते पाणा वि वुच्चंति' ते त्रससम्भारकृतेन कर्मणा समुत्पन्नाः सत्त्वाः सामान्यसंज्ञया प्राणा अप्युच्यन्ते, त्रसा अप्युच्यन्ते, ते महाकाया योजनलक्षप्रमाणवपुर्विकुर्वणात्, तथा चिरस्थितिका अप्युच्यन्ते, भवस्थित्यपेक्षया त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुष्कसद्भावात्। ततश्च त्रसपर्यायव्यवस्थितानामेव प्रत्याख्यानं तेन गृहीतं, न तु स्थावरकायव्यवस्थितानामपीति, यस्तु नागरिकदृष्टान्तो भवतोपन्यस्तोऽसावपि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात्केवलं भवतोऽनुपासितगुरुकुलवासित्वमाविष्करोति, तथाहि—नगरधर्मैर्युक्तो नागरिकः, स च मया न हन्तव्यः, इति प्रतिज्ञां गृहीत्वा यदा तमेव व्यापादयति बहिःस्थितं पर्यायापन्नं तदा तस्य किल व्रतभङ्ग इति भवतः पक्षः, स च न घटते, यतो—यो हि नगरधर्मैरुपेतः स बहिःस्थितोऽपि नागरिक एव, अतः पर्यायापन्न इत्येतद्विशेषणं नोपपद्यते। अथ सामस्त्येन परित्यज्य नगरधर्मानसौ वर्तते ? ततस्तमेवेत्येतद्विशेषणं नोपपद्यते, तदेवमत्र त्रसः सर्वात्मना त्रसत्वं परित्यज्य यदा स्थावरः समुत्पद्यते तदा पूर्वपर्यायपरित्यागादपरपर्यायापन्नत्वात्त्रस एवासौ न भवति, त[थ]था—नागरिकः परत्र प्रविष्टस्तद्धर्मोपेतत्वात्पूर्वधर्मपरित्यागान्नागरिक एवासौ न भवति। पुनरप्यन्यथोदकः पूर्वपक्षमारचयितुमाह—

दधात्य–मथाताहं, तत्र विरतिसद्भावात् । ते च त्रसा नारकतिर्यङ्नरामरगतिभाजः सामान्यसंज्ञया प्राणिनोऽप्यभिधीयन्ते विशेषसंज्ञया त्रसा[अपि]अभिधीयन्ते[,तथा] महाकायाः, वैक्रियशरीरस्य योजनलक्षप्रमाणत्वादिति । तथा चिरस्थितिकाश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिमाणत्वाद्भवस्थितेः, तथा[च]ते प्राणिनो बहुतमाः यैः श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, त्रसानुद्दिश्य तेन प्रत्याख्यानग्रहणात् । भवन्त्येते सर्वेऽप्यभावा असत्येनोत्पद्येरंस्ततोऽल्पतरकाः प्राणिनो, यैः श्रावकस्य अप्रत्याख्यानं भवति । इदमुक्तं भवति–अल्पशब्दस्याभाववाचित्वान्न सन्त्येव ते येष्वप्रत्याख्यानमिति । इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या 'से' तस्य श्रमणोपासकस्य महतस्त्रसकायादुपशान्तस्योपरतस्य प्रतिविरतस्य सतः सुप्रत्याख्यातं भवतीति । तदेवं व्यवस्थिते 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे, यद्यूयं वदथ अन्यो वा कश्चित्, यथा–नास्ति कोऽपि पर्यायो यत्र श्रावकस्य प्राणातिपातप्रत्याख्यानं भवति, अयमपि भवत्पक्षो नो नैयायिको–न युक्त इत्यर्थः । अथ श्रीगौतमस्वामी स्थावरपर्यायापन्नानां व्यापादनेऽपि न व्रतभङ्गो भवतीत्यस्यार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तत्रयमाह—

भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा–आउसंतो नियंठा! इह खलु संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ–जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, एएसिं च णं आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति एतेसि णं आमरणंताए दंडे नो निक्खित्ते, केई च णं (केचित्) समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाणि अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देसं

स्थावरविनाशे स्थावरमध्ये उत्पन्नानां त्रसानामपि विनाशो जायते, एवं कृतत्रसवधप्रत्याख्यानस्य श्रावकस्य व्रतभङ्गः स्यात् । एवमुक्त्वा स्थिते उदके गौतमस्वाम्याह—

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—नो खलु आउसो! अस्माकं + वत्तव(ए)-याए तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं अत्थि णं से परियाए जेणं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते [भवइ], कस्स णं तं हेउं? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, ते तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावर-कायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया [ते] चिरट्ठितीया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पतरगा पाणा जेहिं समणो-वासगस्स अपच्चक्खायं भवति, से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स, जन्नं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह—नत्थि णं से[केइ]परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणा-

+ "अस्माकमित्येतन्मगधदेशे आगोपालाङ्गनाप्रसिद्धं संस्कृतमेवोच्चार्यते, तदिहापि तथैवोच्चारितमिति" चूर्णिकारमिश्राः ।

(इत्था)ए वि दंडे निक्खित्ते, अयंपि भेदे से नो णेआउए भवति । [सू० ९]

व्याख्या—गौतम उदकं पेढालपुत्रं प्रत्यवादीत्–नो खलु आयुष्मन् उदक ! अस्माकं सम्बन्धिना वक्तव्येन एतदस्ति, यत्सर्वेऽपि त्रसाः स्थावरत्वेन प्रत्यायान्ति स्थावराः सर्वेऽपि त्रसत्वेन प्रत्यायान्ति नैतदस्मद्वक्तव्यतायामस्ति, तथाहि–नैतद्भूतं न च भवति न कदाचिद्भविष्यति, यदुत सर्वेऽपि स्थावरा निर्लेपतया त्रसत्वं प्रतिपद्यन्ते, स्थावराणामानन्त्यात्त्रसानां चासंख्येयत्वेन तदाधारत्वानुपपत्तिः × तथा त्रसा अपि सर्वेऽपि न स्थावरत्वं प्रतिपन्ना न प्रतिपद्यन्ते नापि प्रतिपत्स्यन्ते, इदमुक्तं भवति–यद्यपि विवक्षितकालवर्त्तिनस्त्रसाः कालपर्यायेण स्थावरकायत्वेन यास्यन्ति तथाऽप्यपरापरत्रसोत्पत्त्या त्रसत्वात्यनुच्छेदान्न कदाचिदपि त्रसकायशून्यः संसारो भवतीति सर्वथा निर्युक्तिकं भवद्वचः। भवदीयं पक्षं भवदभिप्रायेणैव निराक्रियते—तदेव पराभिप्रायेण परिहरति–अस्त्यसौ पर्यायः, स चायं–भवदभिप्रायेण यदा सर्वेऽपि स्थावरास्त्रसत्वं प्रतिपद्यन्ते यस्मिन् पर्याये–ऽवस्थाविशेषे श्रमणोपासकस्य कृतत्रसप्राणातिपातनिवृत्तेः सतस्त्रसत्वेन [च] भवदभ्युपगमेन सर्वप्राणिनामुत्पत्तेस्तैश्च सर्वप्राणिभिस्त्रसत्वेन भूतै-रुत्पन्नैः करणभूतैस्तेषु [वा] विषयभूतेषु दण्डो ' निक्षिप्तः ' परित्यक्तः । इदमुक्तं भवति–यदा सर्वेऽपि स्थावरा भवदभिप्रायेण त्रसत्वेनोत्पद्यन्ते तदा सर्वप्राणविषयं प्रत्याख्यानं श्रमणोपासकस्य भवतीति । एतदेव प्रश्नपूर्वकं दर्शयितुमाह—' कस्स णं तं हेउं ? ' इत्यादि सुगमं, यावत्त्रसकाये समुत्पन्नानां स्थावराणां स्थानमेत-

---

× अनन्ताः स्थावराः असंख्यातानां त्रसानां मध्ये क्व समान्ति ? ।

दण्डस्य-मघातार्हं, तत्र विरतिसद्भावात् । ते च त्रसा नारकतिर्यङ्नरामरगतिभाजः सामान्यसंज्ञया प्राणिनोऽप्यभिधीयन्ते विशेषसंज्ञया त्रसा[अपि]अभिधीयन्ते[,तथा] महाकायाः, वैक्रियशरीरस्य योजनलक्षप्रमाणत्वादिति । तथा चिरस्थितिकास्त्रय-स्त्रिंशत्सागरोपमपरिमाणत्वाद्भवस्थितेः, तथा[च]ते प्राणिनो बहुतमाः यैः श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, त्रसानुद्दिश्य तेन प्रत्याख्यानग्रहणात् । भवन्मते सर्वस्थावराणां त्रसत्वेनोत्पत्तेस्तेऽल्पतरकाः प्राणिनो, यैः श्रावकस्य अप्रत्याख्यानं भवति । इदमुक्तं भवति-अल्पशब्दस्याभाववाचित्वान्न सन्त्येव ते येष्वप्रत्याख्यानमिति । इत्येवं पूर्वोक्तया नीत्या 'से' तस्य श्रमणोपासकस्य महतस्त्रसकायादुपशान्तस्योपरतस्य प्रतिविरतस्य सतः सुप्रत्याख्यानं भवतीति । तदेवं व्यवस्थिते 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे, यद्यूयं वदथ अन्यो वा कश्चित्, यथा-नास्ति कोऽपि पर्यायो यत्र श्रावकस्य प्राणातिपात-प्रत्याख्यानं भवति, अयमपि भवत्पक्षो नो नैयायिको-न युक्त इत्यर्थः । अथ श्रीगौतमस्वामी स्थावरपर्यायापन्नानां व्यापादनेऽपि न व्रतभङ्गो भवतीत्यस्यार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तत्रयमाह—

भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा ! इह खलु संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया, एएसिं च णं आमरणंताए दंडे निखित्ते, जे इमे अगारमावसंति एतेसि णं आमरणंताए दंडे नो निखित्ते, केई च णं (केचित्) समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाणि अप्पयरो वा भुजयरो वा देसं

वा दूइज्जिता अगारमावसेज्जा ? हंता वसेज्जा, तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भग्गे भवति ? नो इणमट्ठे समट्ठे, एवामेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे निक्खित्ते थावरेहिं पाणेहिं दंडे नो निक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे नो भग्गे भवति। से एवमायाणह ? नियंठा !, एवमायाणियव्वं।

एको दृष्टान्तः, भगवान् गौतमस्वामी अपरानपि [वृत्त] स्थविरान् साक्षिणः कर्तुमिदमाह—

भो उदक ! निर्ग्रन्थाः [युष्मत्स्थविराः] खलु प्रष्टव्यास्तद्यथा-भो निर्ग्रन्थाः ! युष्माकमप्येतद्वक्ष्यमाणमभिमतं माहोस्विन्न ? युष्माकमप्येतदभिप्रेतं यदहं वच्मि, तथाहि-सन्त्येके मनुष्याः ये मुण्डा भूत्वाऽगारात्-गृहान्निर्गत्यानगारतां प्रतिपन्नाः, प्रव्रजिता इत्यर्थः, तेषामुपरि यावज्जीवमामरणान्तं मया दण्डो 'निक्षिप्तः' परित्यक्तो भवति, कोऽर्थः ? कश्चित्तथाविधो मनुष्यो यतीनुद्दिश्य व्रतं गृह्णाति, तद्यथा—न मया यावज्जीवं यतयो हन्तव्याः, एतावता यावज्जीवं यतीन्न हनिष्यामि, गृहस्थानुद्दिश्य नियमो नास्ति, एवं च सति केचन मनुष्याः प्रव्रज्यां गृहीत्वा श्रमणा जाताः कियन्तमपि कालं प्रव्रज्यापर्यायं प्रतिपाल्य यावद्वर्षाणि चत्वारि पञ्च वा षड् दश वा अल्पतरं वा प्रभूततरं वा कालं तथा देशं च 'दूइज्जित्त'त्ति विहृत्य कुतश्चित् कर्मोदयात्तथाविधपरिणतेरगारं-गृहमावसेयुः-गृहस्था भवेयुरित्येवम्भूतः पर्यायः किं सम्भाव्यते ? उत नेति, इत्येवं पृष्टा निर्ग्रन्थाः प्रत्यूचुः-हन्त गृहवासं व्रजेयुः, 'तस्य च' श्रावकस्य यतिवधगृहीतव्रतस्य

'तं' गृहस्थं व्यापादयतः किं व्रतभङ्गो भवेदुत नेति ? ततस्ते निर्ग्रन्था आहुर्न व्रतभङ्ग इति। एवमेव श्रमणोपासकस्यापि त्रसेषु दण्डो निक्षिप्तो न स्थावरेष्विति, अतस्त्रसं स्थावरपर्यायापन्नं व्यापादयतस्तत्प्रत्याख्यानभङ्गो न भवतीति। साम्प्रतं द्वितीयं दृष्टान्तं दर्शयितुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु—नियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा ! [इह] खलु गाहावई वा गाहावइपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? हंता उवसंकमेज्जा, तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ? हंता आइक्खियव्वे, किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा निसम्म एवं वदेज्जा—इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं संसुद्धं नेयाउयं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा निसियामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठेमो तहा उट्ठाए उट्ठेमो त्ति पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वदेज्जा ? हंता वएज्जा, किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए ? हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावित्तए ?

हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावित्तए? हंता कप्पंति, किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावित्तए? हंता कप्पंति, तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे निखित्ते? हंता निखित्ते, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छट्ठसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वइज्जा? हंता वएज्जा, तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे निखित्ते? णो तिणट्ठे समट्ठे, से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्व-सत्तेहिं दंडे नो निखित्ते, से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे निखित्ते, से जे से जीवे जस्स इदाणिं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे नो निखित्ते भवइ, परेणं असंजए आरेणं संजए, इदाणिं असंजए, असंजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे नो निखित्ते भवति, से एवमायाणह?, नियंठा!, से एवमायाणियव्वं ।

व्याख्या—भगवानेव गौतमस्वाम्याह–गृहस्था यतीनामन्तिके [समागत्य] धर्मं श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्रतिपद्य तदुत्तरकालं सञ्जातवैराग्याः प्रव्रज्यां गृहीत्वा पुनस्तथाविधकर्मोदयात्प्रव्रज्यां त्यजन्ति, ते च पूर्वं गृहस्थाः सर्वारम्भप्रवृत्तास्तदारतः प्रव्रजिताः सन्तो जीवोपमर्दपरित्यक्तदण्डाः पुनः प्रव्रज्यापरित्यागे सति नो परित्यक्तदण्डाः, तदेवं प्रत्याख्यातॄणां यथाव-

स्थाप्रयेऽप्यन्यथात्वं भवत्येवं त्रसस्थावरयोरपि द्रष्टव्यम्। एतच्च 'भगवं च णं उदाहु' इत्यादिग्रन्थस्य 'से एव-मायाणियव्वं' इत्येतत्पर्यवसानस्य तात्पर्यम्, अक्षरघटना तु सुगमेति स्वबुद्ध्या कार्या। तदेवं द्वितीयं दृष्टान्तं प्रदर्श्याधुना तृतीयं दृष्टान्तं परतीर्थिकोद्देशेन दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा! केइ खलु परिवायगा [वा] परिव्वाइयाओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा? हंता उवसंकमेज्जा।

व्याख्या—भगवान् गौतमस्वामी कथयति निर्ग्रन्थाः प्रष्टव्याः निर्ग्रन्थानुद्दिश्य पृच्छति-भो आयुष्मन्तो निर्ग्रन्था! इह जगति कश्चित् परिव्राजकः परिव्राजिका वा अन्यतीर्थायतनादागत्य साधुसमीपे धर्मं श्रोतुमुपसङ्क्रमते? निर्ग्रन्था वदन्ति उपसङ्क्रमते, तादृशस्य परिव्राजकस्य कथ्यते धर्मः? हन्त कथ्यते, तमुपस्थापयितुं कल्पते? हन्त कल्पते।

किं तेसिं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे? हंता आइक्खियव्वे, तं चेव जाव उवट्ठावित्तए, [कप्पंति? हंता कप्पंति] किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए? हंता कप्पंति, ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तं चेव जाव अगारं वएज्जा? हंता वएज्जा, ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुंजित्तए?

त्तए ? णो तिणमट्ठे समट्ठे, से जे से जीवे जे परेणं नो कप्पइ संभुंजित्तए, से जे से जीवे आरेणं कप्पइ संभुंजित्तए, से जे से जीवे जे इदाणिं णो कप्पति संभुंजित्तए, परेणं अस्समणे आरेणं समणे, इदाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं नो कप्पति समणाणं निग्गंथाणं संभुंजित्तए, से एवमायाणह नियंठा ! से एवमायाणियव्वं [सू० १०]

व्याख्या—ते परिव्राजकाः साधुत्वं प्राप्ताः सन्तः उपविशन्ति ? हन्त उपविशन्ति, को दोषः ? पुनस्तथाविधकर्मोदयात्साधुमार्गं त्यक्त्वा गृहवासमङ्गीकुर्वन्ति ? हन्त कुर्वन्ति, ततः मण्डल्यामुपवेशयितुं कल्पते ? निर्ग्रन्था ऊचुः—

' नो तिणट्ठे समट्ठे ' इत्यादि सर्वं सुगमम् । तात्पर्यार्थस्त्वयं पूर्वं परिव्राजकादयः सन्तोऽसम्भोग्याः साधूनां गृहीतश्रामण्याश्च साधूनां सम्भोग्याः संवृत्ताः, पुनः प्रव्रज्यात्यागादसम्भोग्या इत्येवं पर्यायान्यथात्वं त्रसस्थावराणामप्यायोजनीयमिति । यदा त्रसः स्थावरेषूत्पन्नस्तदा स्थावर एव, न त्रसः, यदा पूर्वं त्रसोऽभूत्तदा तस्य वधः प्रत्याख्यातोऽभूत् श्रावकेण, यदा स एव त्रसः स्थावरतयोत्पन्नस्तदा न प्रत्याख्यानं स्थावरघाते, यदा पुनः स्थावरकायान्निर्गत्य सोऽजनि त्रसः तदा पुनः प्रत्याख्यानमिति, तदेवं निर्दोषां देशविरतिं प्रसाध्य पुनरपि तद्गतमेव विचारं कर्तुकाम आह—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ नो खलु वयं

संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुसावायं थूलगं अदिन्नादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु मम अट्ठाए किंचिवि करेह वा करावेह वा, तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो, ते णं—अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेढियाओ पच्चोरुहित्ता, ते तहा कालगता किं वत्तव्वं सिया? सम्मं कालगतत्ति वत्तव्वं सिया, ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि वुच्चंति ते महाकाया ते चिरट्ठितीया ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महयाओ जण्णं तुब्भे वदह तं चेव, जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवति।

व्याख्या—पुनरपि गौतमस्वाम्युदकं प्रतीदमाह, तथाहि—बहुभिः प्रकारैस्त्रससद्भावः सम्भाव्यते, ततश्चाशून्यस्तैः संसारः, तदशून्यत्वे च [न]निर्विषयं श्रावकस्य त्रसवधनिवृत्तिरूपं प्रत्याख्यानं, तदधुना बहुप्रकारत्रससम्भूत्याऽशून्यतां संसारस्य दर्शयति, भगवानाह—सन्ति एके केचन श्रमणोपासका भवन्ति, तेषां चेदमुक्तपूर्वं भवति—शक्नुमो न वयं श्रावका-

मेवम्भूतस्य वचसः सम्भव इति, तद्यथा—न खलु वयं शक्नुमः प्रव्रज्यां गृहीतुं, किन्तु वयं चतुर्दश्यष्टमीपूर्णमासीषु सम्पूर्णं पौषधं + सम्यगनुपालयन्तो विहरिष्यामस्तथा स्थूलप्राणातिपातमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहं प्रत्याख्यास्यामो 'द्विविध'-मिति कृतकारितप्रकारद्वयेन, अनुमतेः श्रावकस्याप्रतिषिद्धत्वात्तथा 'त्रिविधेन' मनसा वाचा कायेन च तथा 'मा' इति निषेधे, खलु निमित्तं पौषधस्थस्य पचनपाचनादिकं मम मा कार्षीं, तथा परेण मा कारयत तत्राऽनुमतावपि सर्वथा यदसम्मतं तत्प्रत्याख्यास्यामः, ते एवं कृतप्रतिज्ञाः सन्तः श्रावकाः अभुक्त्वा अपीत्वा अस्नात्वा च पौषधोपेतत्वादासन्दी-पीठिकातः प्रत्याऽरुह्याऽवतीर्य सम्यक् पौषधं गृहीत्वा कालं कृतवन्तस्ते तथा प्रकारेण कृतकालाः सन्तः सम्यक्कृतकाला उच्यन्ते ? किंवा असम्यक् ? कथं च वक्तव्यं स्यात् ? इत्येवं पृष्टैर्निर्ग्रन्थैरवश्यमेवं वक्तव्यं स्यात्—सम्यक्कालगता इति एवं च कालगतानामवश्यं भावी देवलोकेषूत्पादस्तदुत्पन्नाश्च ते त्रसा एव, ततश्च कथं निर्विषयता प्रत्याख्यानस्योपासकस्येति ? । एवं च बहवो जीवाः येषां श्रावकस्य प्रत्याख्यानं स्यात्, ते स्तोका येषु विषये न प्रत्याख्यानं, एवं श्रावकस्य महतस्त्रस-कायाद्विरतिरस्ति, त्रसरक्षणे महान् यत्नः श्रावकस्य विराधनायाश्च विरतिः । एवंविधस्य श्रावकस्य भवद्भिरुच्यते—नास्ति स कोऽपि पर्यायो यत्र श्रावकस्य प्राणातिपातप्रत्याख्यानं स्यात्, एतद्भवद्वचो न न्यायोपपन्नमिति । पुनरन्यथा श्रावकोद्देशेन प्रत्याख्यानस्य विषयं प्रदर्शयितुमाह—

+ “आहारशरीरसत्कारब्रह्मचर्याव्यापाररूपम्” इति वृत्तिकाराः ।

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ नो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए, नो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठ-मुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वयं णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणा-झूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया जाव कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणाइ-वायं पच्चक्खाइस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो तिविहं तिविहेणं मा खलु मम अट्ठाए किंचि वि जाव आसंदीए पेढियाओ पच्चोरुहित्ता ते तहा कालगता किं वत्तव्वं सिया? सम्मं काल-गता इति वत्तव्वं सिया, ते पाणा वि वुच्चंति जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवइ ।

व्याख्या—गौतमस्वाम्याह, तद्यथा 'सन्ति' विद्यन्ते 'एके' केचन श्रमणोपासकाः, तेषां चैतदुक्तपूर्वं भवति, तथाहि-खलु न शक्नुमो वयं प्रव्रज्यां गृहीतुं नापि चतुर्दश्यादिषु सम्यक् पौषधं पालयितुं, वयं चापश्चिमया संलेखनाक्षपणया क्षपितकायाः सन्तो भक्तपानं प्रत्याख्याय 'कालं' दीर्घकालमनवकाङ्क्षमाणा विहरिष्यामः । इदमुक्तपूर्वं भवति, तद्यथा-न खलु वयं दीर्घकालं पौषधादिकं व्रतं पालयितुं समर्थाः, किन्तु वयं सर्वमपि प्राणातिपातादिकं प्रत्याख्याय संलेखनासंलि-खितकायाश्चतुर्विधाहारपरित्यागेन जीवितं परित्यक्तुमलमिति, एतत्सूत्रेणैव दर्शयति-'सव्वं पाणाइवाय'मित्यादि

सुगमम्। यावच्चे तथाकालगताः किं वक्तव्यमेतत्स्यात्-सम्यक् ते कालगताः? इति, एवं पृष्टा निर्ग्रन्था एतदूचुर्यथा ते सन्मनसः-शोभनमनसस्ते कालगता इति, ते च सम्यक् संलेखनया यदा कालं कुर्वन्ति तदाऽन्यतमेषु देवलोकेषूत्पद्यन्ते, तत्र चोत्पन्ना यद्यपि व्यापादयितुं न शक्यन्ते तथापि त्रसत्वाच्चे श्रावकस्य[त्रस]वधनिवृत्तस्य विषयतां प्रतिपद्यन्ते। पुनरप्यन्यथा प्रत्याख्यानस्य विषयमुपदर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया मणुस्सा भवंति तं जहा-महेच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा जाव सव्वाओ परिग्गहाओ अपडिविरता, जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते तओ भुज्जो-सगमादाए दोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि वुच्चंति। ते महाकाया [ते] चिरट्ठितीया, ते बहुतरगा पाणा, जाव जं णं तुब्भे वदह तं चेव, अयंपि भेदे से णो नेयाउए भवति।

व्याख्या—भगवानाह-'एके' केचन मनुष्या एवम्भूता भवन्ति, तद्यथा-महेच्छा महारम्भा महापरिग्रहा इत्यादि सुगमं, यैर्येषु वा श्रमणोपासकस्य 'आदानं' प्रथमव्रतग्रहणं, तत आरभ्याऽऽमरणान्तं दण्डो 'निक्षिप्तः' परित्यक्तो भवति, ते च तादृग्विधास्तस्मात्स्वकालात्यये स्वायुष्कं त्यजन्ति, त्यक्त्वा त्रसजीवितं ते भूयः 'स्वकर्म'स्वकृतं किल्बिष-

मादाय—गृहीत्वा दुर्गतिगामिनो भवन्ति। एतदुक्तं भवति—महारम्भपरिग्रहत्वात्ते मृताः पुनरन्यतरपृथिव्यां नारकत्वेनोत्पद्यन्ते, ते च सामान्यसंज्ञया प्राणिनो विशेषसंज्ञया त्रसाः महाकाया चिरस्थितिका इत्यादि पूर्ववत्, यावत् 'नो णेआउएत्ति'। पुनरप्यन्येन प्रकारेण प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया मणुस्सा भवंति [तं जहा] अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, ते तओ आउयं विप्पजहंति, ते तओ भुज्जो सगमादाए सोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

व्याख्या—भगवानाह—सन्त्येके मनुष्याः महारम्भपरिग्रहादिभ्यो विपर्यस्ताः सुशीलाः सुव्रताः सुप्रत्यानन्दाः साधव इत्यादि सुगमं, यावत् 'नो णेयाउए भवति' एते च सामान्यश्रावकास्तेऽपि त्रसेष्वेवान्यतरेषु देवेषूत्पद्यन्ते अतोऽपि न निर्विषयं प्रत्याख्यानमिति। किञ्चान्यत्—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव एगच्चाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया, जेहिं समणोवासगस्स आया-

णसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते । ते तओ आउ[गं] विप्पजहंति, आउयं विप्पजहित्ता भुज्जो सग-मादाए सुग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव नो णेयाउए भवति ।

व्याख्या—एतेऽपि अल्पलोभा अल्पपरिग्रहा अल्पारम्भा धार्मिकाः प्राणातिपातादेकस्मिन् पक्षे विरता एकतो अविरता अतो विरताविरता उच्यन्ते, श्रमणोपासकस्य येषामामरणान्ताद्दण्डो निषिद्धोऽस्ति, ते विरताविरताः स्वमायुस्त्य-क्त्वा सद्गतिगामिनो भवन्ति—देवेषूत्पद्यन्ते । ये त्रसस्थाः प्राणास्तथा त्रसा महाकायाश्चिरस्थितिकाश्चोच्यन्ते ते तानपि न घ्नन्ति । अतो यद्भवतोच्यते नास्ति स कोऽपि पर्यायो यत्र श्रावकस्य प्राणातिपातविरतिः स्यात्तन्मृषा । 'अयं भेदे से नो णेयाउए' इत्यादि सर्वत्र योज्यम् ।

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया मणुस्सा भवंति, आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुई रहस्सिया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, ते नो बहु-संजया नो बहुपडिविरता पाणभूयजीवसत्तेहिं अविरया, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडि-वेदेंति— अहं न हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, जाव कालमासे कालं किच्चा अन्नयराइं आसुरियाइं किब्बि-सियाइं जाव उववत्तारो हवंति, तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चा-

यंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव नो णेयाउए भवति ।

व्याख्या—गौतमस्वाम्येव प्रत्याख्यानस्य विषयं दर्शयितुमाह—'एके 'केचन मनुष्याः एवम्भूता भवन्ति, तद्यथा—आरण्यकास्तीर्थिकविशेषास्तथा आवसथिकास्तीर्थिकविशेषा एव तथा ग्रामनिमन्त्रिकास्तथा 'कण्हुई रहस्सिय' त्ति कचित्कार्ये रहस्यकाः एते सर्वेऽपि तीर्थिकविशेषास्ते च नो बहुसंयताः हस्तपादादिक्रियासु, तथा ज्ञानावरणीयावृतत्वान्न बहुविरताः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेभ्यस्तत्स्वरूपापरिज्ञानात्तद्वधादविरता इत्यर्थः। ते तीर्थिकविशेषा बहुसंयताः स्वतोऽविरताः आत्मना सत्यामृषाणि वाक्यान्येवमिति वक्ष्यमाणनीत्या 'विप्रयुञ्जन्ति' प्रयुञ्जन्ति 'एवं विप्पडिवेदेंति' + एवं विविधप्रकारेण परेषां प्र[ति]वेदयन्ति—ज्ञापयन्ति, तानि पुनरेवम्भूतानि वाक्यानि दर्शयति, तद्यथा—अहं न हन्तव्योऽन्ये पुनर्हन्तव्यास्तथाऽहं नाज्ञापयितव्योऽन्ये पुनराज्ञापयितव्या इत्यादीन्युपदेशवाक्यानि ददति, ते चैवमेवोपदेशदायिनः स्त्रीकामेषु मूर्च्छिताः गृद्धा यावद्वर्षाणि चतुःपञ्चमानि षड्दशमानि वाऽतोऽप्यल्पतरं वा प्रभूततरं वा कालं भुक्त्वा उत्कट[ा भोगा]-भोगभोगा[स्तां]स्ते तथाभूताः किञ्चिदज्ञानतपःकारिणः कालमासे कालं कृत्वाऽन्यतरेषु आसुरीयेषु स्थानेषु किल्बिषिकेष्वसुरदेवाधमेषूपपत्तारो भवन्ति, यदि वा प्राण्युपघातोपदेशदायिनो भोगाभिलाषुकाः 'अमूर्धेषु' नित्यान्धकारेषु किल्बिषप्रधानेषु नरकस्थानेषु ते समुत्पद्यन्ते, ते च देवा नारका वा त्रसत्वं न व्यभिचरन्ति, तेषु च यद्यपि द्रव्यप्राणातिपातो न

+ " कचित्पाठोऽस्यायमर्थः " इतिवृत्तौ ।

सम्भवति तथापि ते भावतो यः प्राणातिपातस्तद्विरतेर्विषयतां प्रतिपद्यन्ते, ततोऽपि च देवलोकाच्च्युता नरकाद्वा निर्गताः क्लिष्टपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु तथाविधमनुष्येषु वा एडमूकतया समुत्पद्यन्ते, तथा 'तमोरूवत्ताए'त्ति अन्धबधिरतया प्रत्यायान्ति, ते चोभयोरप्यवस्थयोस्त्रसत्वं न व्यभिचरन्ति, अतो न निर्विषयं प्रत्याख्यानं एतेषु च द्रव्यतोऽपि प्राणातिपातः सम्भवतीति । साम्प्रतं प्रत्यक्षसिद्धमेव विरतेर्विषयं दर्शयितुमाह—

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए] जाव [दंडे] निक्खित्ते [भवइ] ते पुव्वामेव कालं करिंति, करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि [वुच्चंति] ते महाकाया ते चिरट्ठितिया ते दीहाउया ते बहुतरगा जेहिं समणोवासगस्स [सुपच्चक्खायं भवइ] जाव णो णेयाउए भवति।

व्याख्या—यो हि प्रत्याख्यानं गृह्णाति तस्माद्दीर्घायुष्काः 'प्राणाः' प्राणिनस्ते च नारकमनुष्यदेवा द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चश्च सम्भवन्ति, ततः कथं निर्विषयं प्रत्याख्यानमिति ? शेषं सुगमं यावत् 'णो णेयाउए भवइ'त्ति ।

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया पाणा भवंति समाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए] जाव दंडे निक्खित्ते भवइ, ते (पाणा) सममेव कालं करिंति करित्ता पारलोइयत्ताए

पच्चायंति, ते पाणा वि [वुच्चंति] ते तसा [वि वुच्चंति] ते महाकाया ते समाउया [ते बहुतरगा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति,] जाव नो णेआउए भवति ।

व्याख्या—यः श्रावकस्त्रसवधप्रत्याख्यानं गृह्णन्नस्ति ते न समायुष्का एके प्राणिनः सन्ति ते सममेव कालं कुर्वन्ति सममेव परलोकगतयो भवन्ति, ते समायुष्का अपि त्रसा एव, तेषां श्रावकस्य प्रत्याख्यानं सुप्रत्याख्यानं भवति, यदुच्यते त्वया—नास्ति स कोऽपि पर्यायो यत्र श्रावकस्य प्रत्याख्यानं स्यादपि मुधेति अयंपि भेदे से नो णेआउए ।

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया पाणा अप्पाउगा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे [निक्खित्ते भवइ], ते पुव्वामेव कालं करेंति, करित्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा० ते तसा० ते महाकाया ते अप्पाउया ते बहुतरगा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं हवइ ते अप्पतरगा जेहिं समणोवासगस्स दुपच्चक्खायं हवइ इति से महया जाव नो णेयाउए भवइ ।

व्याख्या—एके प्राणिनः अल्पायुषः सन्ति तेऽपि त्रसा उच्यन्ते, कृतप्रत्याख्यानाच्छ्रमणोपासकात्पूर्वं म्रियन्ते, तद्विषयं प्रत्याख्यानं स्यात्, एतावता बहुतरप्राणविषयं प्रत्याख्यानं अल्पतरप्राणिविषये अप्रत्याख्यानं, अथवा यस्मात् श्रावकादल्पायुषः प्राणिनः सन्ति ते यावन्न म्रियन्ते तावत्तद्विषयं प्रत्याख्यानं स्यात्, ते तु मृत्वा पुनस्त्रसेष्वेवोत्पद्यन्ते तदाऽप्यतोऽपि

प्रत्याख्यानं स्यात्, अतः श्रावकस्य निर्विषयं प्रत्याख्यानं कथं कथ्यते ? विमृश भवतोऽयुक्तमेवेति वचनम् ।

भगवं च णं उदाहु संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—नो खलु वयं संचाएमो मुंडे भवित्ता जाव पव्वइत्तए, नो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्ण-मासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए, नो खलु वयं संचाएमो अपच्छिमं जाव विहरित्तए, वयं णं सामाइयं देसावगासियं पुरत्थापाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा एतावता जाव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे निखित्ते, सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि ।

व्याख्या—भगवानाह इत्यादि सुगमम् । यावत् 'वयं णं सामाइयं देसावगासियं'ति देशावकाशिकं पूर्वगृहीतस्य दिग्व्रतस्य योजनशतादिकस्य त[द्य]त्प्रतिदिनं संक्षिप्ततरं योजनगव्यूतपत्तनगृहमर्यादादिकं परिमाणं विधत्ते तद्देशावकाशिक-मित्युच्यते, तदेव दर्शयति 'पुरत्थापाईण' मित्यादि, प्रातरेव प्रत्याख्यानावसरे दिगाश्रितमेवम्भूतं प्रत्याख्यानं करोति, तथाहि—'प्राचीनं' पूर्वाभिमुखं प्राच्यां दिश्येतावन्मयाऽद्य गन्तव्यं, तथा 'प्रतीचीनं' प्रतीच्यां—अपरस्यां दिशि, तथा दक्षिणाभिमुखं दक्षिणस्यां, तथोदीच्यामुत्तरस्यां वा दिश्येतावन्मयाऽद्य गन्तव्यमित्येवम्भूतं स प्रतिदिनं प्रत्याख्यानं विधत्ते, तेन च गृहीतदेशावकाशिकेन श्रावकेण सर्वप्राणिभ्यो गृहीतपरिमाणात्परेण दण्डो 'निक्षिप्तः' परित्यक्तो भवति, ततश्चासौ श्रावकः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु क्षेमङ्करोऽहमस्मीत्येवमध्यवसायी भवति ।

तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स, आयाणसो (दंडे निक्खित्ते) जाव तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति । ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा० महाकाया ते चिरट्ठितीया जाव अयंपि भेदे से नो णेयाउए ॥ १ ॥ [सू० ११]

व्याख्या—' तत्र ' गृहीतपरिमाणे देशे ये आरेण त्रसाः प्राणा येषु श्रमणोपासकस्य आदान इत्यादेरारभ्याऽऽमरणान्तो दण्डो ' निक्षिप्तः ' परित्यक्तो भवति, ते च त्रसाः प्राणाः स्वायुष्कं परित्यज्य तत्रैव—गृहीतपरिमाणदेश एव योजनादिदेशाभ्यन्तर एव त्रसाः प्राणास्तेषु प्रत्यायान्ति, इदमुक्तं भवति—गृहीतपरिमाणे देशे त्रसायुष्कं परित्यज्य त्रसेष्वेवोत्पद्यन्ते, ततश्च तेषु श्रमणोपासकस्य सुप्रत्याख्यानं भवति, उभयथापि त्रसत्वसद्भावात्, शेषं सुगमं, यावत् ' नो णेआउए भवति 'त्ति एवमन्यान्यप्यष्टौ सूत्राणि द्रष्टव्यानि, तत्र प्रथमे सूत्रे तदेव यद् व्याख्यातं, तच्चैवम्भूतं, तद्यथा—गृहीतपरिमाणे देशे ये त्रसास्ते गृहीतपरिमाणदेशा[देशस्था]स्तेष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते । अथाग्रेतनानि तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति ते ततो आउं वि०त्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे निक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते पाणा वि वुच्चंति ते तसा वि० ते चिरट्ठिइया जाव अयंपि भेदे से० ॥ २ ॥ अयं द्वितीयो भङ्गकः ।

तत्थ जे आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए जाव आउं विप्पजहंति [विप्पजहित्ता] तत्थ परेणं जे तसा—थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते, तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते पाणा वि जाव, अयं पि भेदे से णो नेयाउए ॥ ३ ॥ तत्थ जे आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए निक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, जेहिं [तेसु] समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव अयंपि भेदे नो णेयाउए ॥ ४ ॥ तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे निक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स ×सुपच्चक्खायं भवति ते पाणा वि० जाव अयंपि भेदे से नो० ॥ ५ ॥ तत्थ णं जे ते

× एतच्चिन्हान्तर्गतपाठस्थाने " अट्ठाए अणट्ठाए " इत्येवं रूपः प्रत्यन्तरे ।

परेणं थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते, अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए० तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं हवइ, ते पाणा वि० जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवति ॥ ६ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए अट्ठाए अणट्ठाए दंडे निक्खित्ते हवइ, ते तओ आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निखित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं हवइ, ते पाणा वि० जाव अयंपि भेदे से णो णेयाउए भवति ॥ ७ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए अट्ठाए अणट्ठाए दंडे निक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे निखित्ते तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि० जाव अयंपि

भेदे से णो णेयाउए भवति । ॥ ८ ॥ तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए अट्ठाए अणट्ठाए दंडे निक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे निक्खित्ते तेसु पच्चायंति जे(ते)हिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते पाणा वि० जाव अयंपि भेदे से नो णेयाउए भवति ॥ ९ ॥

व्याख्या—गृहीतपरिमाणे देशे ये त्रसास्ते [गृहीतपरिमाणदेशस्थात्र]तेष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते इति प्रथमो भङ्गकः ॥ १ ॥ द्वितीयं सूत्रं त्वाराद्देशवर्तिनस्त्रसा आराद्देशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते (इति) द्वितीयः ॥ २ ॥ तृतीये त्वाराद्देशवर्तिनस्त्रसा गृहीतपरिमाणाद्देशाद्बहिर्ये त्रसाः स्थावराश्च तेषूत्पद्यन्ते अयं तृतीयः ॥ ३ ॥ चतुर्थे त्वाराद्देशवर्तिनो ये स्थावरास्ते तद्देशवर्तिष्वेव त्रसेषूत्पद्यन्ते अयं (चतुर्थः) तुर्यः ॥ ४ ॥ पञ्चमसूत्रे तु आराद्देशवर्तिनो ये स्थावरास्ते गृहीतपरिमाणस्थेषु तद्देशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते अयं पञ्चमः ॥ ५ ॥ षष्ठसूत्रं तु परदेशवर्तिनो ये स्थावरास्ते गृहीतपरिमाणस्थेषु त्रसस्थावरेषूत्पद्यन्ते अयं षष्ठः ॥ ६ ॥ सप्तमसूत्रं त्विदं— परदेशवर्तिनो ये त्रसाः स्थावरास्ते आराद्देशवर्तिषु त्रसेषूत्पद्यन्ते अयं सप्तमः ॥ ७ ॥ अष्टमसूत्रं तु परदेशवर्तिनो ये त्रसाः स्थावरास्ते आराद्देशवर्तिषु स्थावरेषूत्पद्यन्ते अष्टमः ॥ ८ ॥ नवमसूत्रे परदेशवर्तिनो ये त्रसाः स्थावरास्ते परदेशवर्तिष्वेव त्रसस्थावरेषूत्पद्यन्ते नवमोऽयम् ॥ ९ ॥ (एवमनया प्रक्रियया नवापि सूत्राणि भणनीयानि)

तत्र यत्र [यत्र] त्रसास्तत्रादानशः आदेशस्य श्रमणोपासकेनामरणान्तो दण्डस्त्यक्त इत्येवं योजनीयं, यत्र तु स्थावरास्तत्रार्थाय दण्डो न निक्षिप्तो-न परित्यक्तः, अनर्थाय च दण्डः परित्यक्त इति। शेषाक्षरघटना तु स्वबुद्ध्या विधेयेति।

भगवं च णं उदाहु ण एयं भूयं ण एयं भव्वं ण एयं भविस्संति जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणा [वि] वोच्छिज्जिहिंति तसा पाणा भविस्संति, अवोच्छिन्नेहिं तस-थावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह-णत्थि णं से केइ परियाए जाव नो णेआउए भवति। [सु० १२]

व्याख्या—भगवान् गौतमस्वाम्युदकं प्रत्येतदाह तद्यथा-भो उदक! नैतद्भूतमनादिके काले प्रागतिक्रान्ते नाप्यनागामिनि काले चैतद्भविष्यति नाप्येतद्वर्त्तमाने काले भवति यत्त्रसाः सर्वथा निर्लेपतया स्वजात्युच्छेदे नो छेत्स्यन्ति-विच्छेदं यास्यन्ति, सर्वे स्थावरा एव भविष्यन्ति, स्थावराश्च प्राणिनः कालत्रयेऽपि न भविष्यन्ति-विच्छेदं यास्यन्ति, सर्वेऽपि त्रसा भविष्यन्ति। यद्यपि तेषां परस्परसङ्क्रमेण गमनमस्ति तथापि न सर्वप्रकारेण निर्लेपतया त्रसाः सर्वे स्थावरा भवन्ति स्थावराश्च सर्वेऽपि निर्लेपतया त्रसा जायन्ते, नैतद्भवति कदाचिदपि, यद्भुत-प्रत्याख्यानिनमेकं विहाय परेषां नारकाणां द्वीन्द्रियादीनां तिरश्चां मनुष्यदेवानां च सर्वथाऽप्यभावः, एवं च त्रसविषयं प्रत्याख्यानं निर्विषयं भवति यदि तस्य प्रत्याख्यानिनो जीवत एव सर्वे नारकादयस्त्रसाः समुच्छिद्यन्ते, नायं भावः सम्भवति, स्थावरास्त्वनन्ता न त्रसेषु सम्मान्ति त्रसास्त्वसंख्यातास्ते

स्त्वनन्ताः अनन्ताः कथमसङ्ख्यातेषु सम्मान्ति ? सुप्रतीतमिदं, तदेवमव्यवच्छिन्नैस्त्रसैः स्थावरैश्च प्राणिभिर्यद्व्रत गृहमन्यो वा कश्चिद्ददाति यत्रासावसौ कश्चित्पर्यायो यच्छ्रावकस्यैकत्रसविषयोऽपि दण्डः परित्यक्तो भवति, तदेतत्सर्वमप्ययुक्तमिव प्रतिभासते । साम्प्रतं उपसंजिघृक्षुराह—

भगवं च णं उदाहु आउसंतो उदगा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासे इमित्ति मन्नंति + आगमित्ता नाणं आगमित्ता दंसणं आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोय-पलिमंथत्ताए चिट्ठति, जे खलु समणं वा माहणं वा नो परिभासइ मित्ति मन्नमाणे × आगमेत्ता नाणं आगमेत्ता दंसणं आगमेत्ता चारित्तं पावाणं कम्माणं अकरणत्ताए से खलु परलोयविसुद्धीए चिट्ठति ।

व्याख्या—श्री गौतमस्वाम्युदकं प्रत्युवाच । आयुष्मन्नुदक ! खलु श्रमणं वा माहनं वा सद्ब्रह्मचर्योपेतं 'परिभाषते' निन्दति मैत्रीं मन्यमानोऽपि तथा सम्यग्ज्ञानमागम्य तथा दर्शनं चारित्रं च पापानां कर्मणामकरणाय समुत्थितः [स]खलु लघुप्रकृतिः पण्डितंमन्यः परलोकस्य सुगतिलक्षणस्य स[त्]त्कारणस्य वा सत्संयमस्य वा 'पलिमन्थाय' विघाताय तिष्ठति, यस्तु पुनर्महासत्त्वो रत्नाकरवद्गम्भीरो न श्रमणादीन् परिभाषते तेषु च परमां मैत्रीं मन्यते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यनुगम्यते

+ " मन्नमाणे " इत्यर्थसङ्गत्या युक्तमाभाति । × " मन्नंति " इति बहुष्वादर्शेषु ।

तथा पापानां कर्मणां अकरणाय समुत्थितः स खलु परलोकविशुद्ध्यै अवतिष्ठते, स परलोकसाधनाय तिष्ठतीति भावः। एतावता यो बहुश्रुतान् गीतार्थान् पूर्वाचार्यांश्चिन्दति स परलोकस्य संयमस्य विराधकः यस्तु तादृशान्महागीतार्थान् पूर्वाचार्यांश्च निन्दति स परलोकस्य संयमस्य चाराधक इति तत्त्वम्। भो उदक! इति ज्ञात्वा त्वयाऽपि संयमसाधनाय यत्नो विधेयः।

भगवं च णं उदाहु—तते णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोतमं अणाढायमाणे जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं संपहारेत्थ गमणाए।

व्याख्या—तदेवं यथावस्थितमर्थं गौतमस्वामिनाऽवगमितोऽप्युदकः पेढालपुत्रो यदा भगवन्तं-गौतममनाद्रियमाणो यस्या एव दिशः प्रादुर्भूतस्तामेव दिशं गमनाय सम्प्रधारितवान्। तं च गच्छन्तं दृष्ट्वा भगवान् गौतमस्वाम्याह—

आउस्संतो उदगा! जे खलु तहा[भूतस्स]रूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहुमाते पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लंभिए समाणे सोवि ताव तं आढाति परिजाणति वंदति नमंसति सक्कारेति सम्माणेति (जाव) कल्लाणं मङ्गलं देवयं चेइयं पज्जुवासति।

व्याख्या—आयुष्मन्नुदक! यः खलु तथाभूतस्य श्रमणस्य ब्राह्मणस्य वाऽन्तिके-समीपे एकमपि योगक्षेमाय आर्यं

धार्मिकं तथा शोभनवचनं श्रुत्वा निशम्याऽऽत्मन एव तदनुत्तरं योगक्षेमपदमित्येवमवगम्य 'सूक्ष्मया'–कुशाग्रीयया बुद्ध्या 'प्रत्युपेक्ष्य'–पर्यालोच्य तद्यथा–अहमनेनैवम्भूतमर्थपदं 'लम्भितः' प्रापितः सन्नसावपि तावल्लौकिकस्तमुपदेशदातार-माद्रियते पूज्योऽयमित्येवं जानाति तथा कल्याणं मङ्गलं दैवतमिव स्तौति पर्युपास्ते च यद्यप्यसौ पूजनीयः किमपि नेच्छति तथापि तेन [तस्य] परमार्थोपकारिणो यथाशक्ति विधेयमिति । तदेवं गौतमस्वामिनाऽभिहित उदक इदमाह—

तए णं से उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी–एतेसि णं भंते ! पदाणं पुव्विं अन्नाणयाए असवणयाए अबोहिए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुणयाणं अविन्नायाणं अनिगूढाणं अवोगडाणं अवोच्छिन्नाणं अणिसिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं नो सद्दहियं नो पत्तियं नो रोइयं एतेसि णं भंते ! पदाणं इण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहिए जाव उवहारणयाए एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेव जहेयं तुब्भे वदह । तए णं भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासि–सद्दहाहि णं अज्जो ! पत्तियाहि णं अज्जो ! रोएहि णं अज्जो ! एवमेयं जहा णं अम्हे वदामो । तए णं से उदए पेढालपुत्ते भयवं गोयमं एवं वयासी–इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। तए णं

से भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता तते णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेइत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तु[ब्भं]ब्भा[तुम्हा]णं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। [तए णं समणे भगवं महावीरे उदयं (पेढालपुत्तं) एवं वयासी—] अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेहि। तते णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति त्ति बेमि। नालिन्दिज्जऽज्झयणं समत्तम्।

व्याख्या—इह व्याख्यानं सर्वं सुगमं, विशेषवस्तु बृहद्वृत्तितोऽवसेयमिति।

समाप्ता चेयं द्वितीयाङ्गस्य दीपिका।

जयति जिनशासनमिदं, परतीर्थिकतिमिरजालवरतरणिम्। भवजलधियानपात्रं, पात्रं सज्ज्ञानरत्नानाम् ॥ १ ॥
यस्य जिनेन्द्रोः शासन-पानीयपथाश्वरत्नमारुह्य। कुशलेन के न चापु-र्भवजलमुल्लंघ्य शिवनगरम् ॥ २ ॥
स जयति वीरजिनेन्द्र-स्त्रिभुवनचूडामणिः कृतोद्योतः। कुमुदोल्लासं कुर्वन् मदनखमूर्णांशुभिर्वितते: ॥ ३ ॥

वर्द्धमानजिनो जीया-ज्जगदानन्ददायकः । द्वादशाङ्गीविधातारो, जयन्तु च गणाधिपाः ॥ ४ ॥
जयन्तु गुरवः पूज्या ये सदा मयि वत्सलाः । परोपकारप्रवणाः, जयन्तु स्वजना अपि ॥ ५ ॥
श्री जिनदेवसूरीणा-मादेशेन चिरायुषाम् । उपजीव्य बृहद्वृत्तिं, कृत्वा नामान्तरं पुनः ॥ ६ ॥
श्री साधुरङ्गोपाध्यायै-र्द्वितीयाङ्गस्य दीपिका । संक्षेपरुचिजीवानां, कृताच सुखबोधिनी ॥ ७ ॥
लिलिखे वरलूग्रामे, निधिनन्दशरैकके (१५९९) वत्सरे कार्त्तिके मासि चतुर्मासिकपर्वणि [त्रिभिः सम्बन्धः] ॥ ८ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्र-रत्नत्रितयदीपिका । मिथ्यात्वध्वान्तविध्वंसदीपिकेयं समर्थिता ॥ ९ ॥
मनोमत्सरमुत्सृज्या-ऽऽदृत्य सौजन्यमुत्तमम् । व्याधार्या वाचनीया च, विधायानुग्रहं मयि ॥ १० ॥
लिखता लिखितं किञ्चिद्यदि-न्यूनाधिकं भवेत् । विधाय सम्यक् तत्सर्वं, वाचनीयं विवेकिभिः ॥ ११ ॥
स्तोकाः कर्पूरतरवः, स्तोकाश्च मणिभूमयः । परोपकारप्रवणाः, स्तोकाः प्रायेण सज्जनाः ॥ १२ ॥
न मे कोऽप्यभिमानोऽस्ति, न मे पण्डितमानिता । न कला न च चातुर्यं, मन्दमेधाऽस्मि सर्वथा ॥ १३ ॥
दीपिकायाः स्वभावेन, प्रशस्तिर्निर्मिता मया । क्षूणं तदत्र नो चिन्त्यं, नावमान्यो ह्ययं जनः ॥ १४ ॥
न चात्मीया मतिः क्वापि, प्रयुक्ताऽस्त्यत्र केवलम् । संक्षेप्य वृत्तेरेवाऽयं सूत्रार्थो लिखितोऽस्त्यहो ॥ १५ ॥
अन्यथाऽहं जडप्रायो, वृत्तिं कर्त्तुं कुतः क्षमः ? । किंनाम पङ्गुरारोढुं, शक्तः स्यान्मेरुमूर्द्धनि ॥ १६ ॥
व्याख्यानं वृत्तिमध्यस्थं, निर्युक्तेरपसार्य च । मूलसूत्रेण संयुक्ता, पुस्तके च निवेशिता ॥ १७ ॥

मया सदाचारपरायणेन, जिनाज्ञया ईश्वरपालकेन ।
यदर्जि पुण्यं सुकृतानुबन्धि, तेनास्तु लोको जिनधर्मरक्तः ॥ १८ ॥
धर्मोपदेशदानेन, दीपिकालेखनेन च । सुखी भवतु लोकोऽयं, तेन पुण्येन भूयसा ॥ १९ ॥
यदर्जितं मया पुण्यं, विमलाचलयात्रया । उज्जयन्ते च श्रीनेमेः, पदपङ्कजसेवया ॥ २० ॥
तेन पुण्येन मे भूया-द्बोधिलाभो भवे भवे । यतः सम्यक्त्वसम्प्राप्ति-र्विना पुण्यैर्न लभ्यते ॥ २१ ॥
श्रीमत्खरतरगच्छे, श्रीमज्जिनदेवसूरिसाम्राज्ये । श्रीभुवनसोमसद्गुरु-शिष्यैः श्रीसाधुरङ्गाख्यैः ॥ २२ ॥
लब्धोपाध्यायपदैः, कुशलेनारोपिता प्रमाणपदम् । आचन्द्रार्कं नन्दतु, गीतार्थैर्वाच्यमानेयम् ॥२३॥ (युग्मम्)
विनीतविनयेनेयं, धर्मसुन्दरसाधुना । लिखिता प्रथमादर्शे, वाचनाय स्वपुस्तके ॥ २४ ॥

इति प्रशस्तिः । श्रेयोऽस्तु सपरिवारस्य ।

यादृशं पुस्तकं दृष्टं, तादृशं लिखितं मया । यदि शुद्धमशुद्धं वा, मम दोषो न दीयते ॥ १ ॥

इतिश्री परमसुविहित–खरतरगच्छविभूषण–पाठकप्रवर–श्रीमत्साधुरङ्गगणिवर–गुम्फितायां श्री सूत्रकृताङ्ग-
दीपिकायां समाप्तमिदं नालिन्दीयाख्यं सप्तममध्ययनं तत्समाप्तौ च समाप्तमिदं
सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गसूत्रं दीपिकान्वितम् ॥

॥ श्रीकल्याणं भूयात् ॥